

# फ

## फ्रेंज़ उरी बोआस

(Franz Uri Boas)

सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के सिद्धांत के लिए रास्ता साफ़ करने वाले अमेरिकी मानवशास्त्री फ्रेंज़ उरी बोआस (1858-1942) को आधुनिक मानवशास्त्र का पितामह माना जाता है। सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के सूत्रीकरण के बाद ही संस्कृतियों को समझने के क्रमविकासीय रवैये की जकड़ से निकला जा सका। संस्कृतियों के आंतरिक पक्षों को उन्हीं की शर्तों पर समझने की विधियाँ विकसित की गयीं। बोआस का आग्रह था कि संस्कृति को एकवचन के रूप में न समझ कर बहुवचन के रूप में देखा जाए, क्योंकि हर संस्कृति के पास अपने अलग नैतिक, आचरणगत और आस्थागत मानक होते हैं। संस्कृतियों की इन विशिष्ट मूल्य-प्रणालियों का तात्पर्य ग्रहण करने के लिए उन्हें किन्हीं बाह्य आधारों के बजाय उनकी आंतरिक कसौटियों पर कस कर समझना अनिवार्य है। 1896 में बोआस के प्रयासों से ही कोलम्बिया विश्वविद्यालय में मानवशास्त्र का स्नातक पाठ्यक्रम शुरू हुआ। बोआस का तर्क था कि संस्कृति को जैविकी या किसी सांकेतिक विचार (जैसे भाषा) में नहीं घटाया जा सकता। संस्कृति को किसी 'चीज़' की तरह समझने के बजाय बोआस का जोर उसे किसी संज्ञा के बजाय विशेषण की तरह ग्रहण करने पर था। उन्होंने मानवशास्त्र के अध्ययन में 'फ़ोर फ़िल्ड थियरी' प्रचलित की जिसके बाद यह अनुशासन चार-पक्षीय (भौतिक, भाषायी, पुरातात्विक और सांस्कृतिक) बन गया। लोकगाथाओं का अध्ययन प्रोत्साहित करने का श्रेय भी बोआस को जाता है।

फ्रेंज़ उरी बोआस का जन्म मिंडेन, वेस्टफ़ालिया के एक जर्मन यहूदी परिवार में हुआ। उनके माता-पिता शिक्षित,

खुशहाल और उदारतावादी थे। अपनी शुरुआती शिक्षा-दीक्षा में ही बोआस प्राकृतिक इतिहास में रुचि लेने लगे। उन्होंने भौतिकशास्त्र में डॉक्टरेट करने के बाद भूगोल का अध्ययन शुरू किया। कांट के दर्शन में भी उनकी गहरी दिलचस्पी थी। बैफ़िन आइलैण्ड में फ़िल्डवर्क करते हुए उनकी दिलचस्पी ग़ैर-पश्चिमी संस्कृतियों के अध्ययन में हुई। उत्तर-पश्चिमी प्रशांत क्षेत्र के स्थानीय अमेरिकनों का अध्ययन करने के लिए उन्हें न्यूयॉर्क होते हुए ब्रिटिश कोलम्बिया जाना पड़ा। वहीं उन्हें *साइंस* पत्रिका के सहायक सम्पादक की नौकरी मिल गयी। जर्मनी में बढ़ते हुए उग्र-राष्ट्रवाद, यहूदी विरोध और भूगोलविद् के रूप में रोज़ी-रोटी के अवसर कम होने के कारण उन्होंने अमेरिका में ही रुक जाने का फ़ैसला किया। शुरू में उन्होंने अमेरिका के संग्रहालयों में काम किया। 1896 में वे कोलम्बिया विश्वविद्यालय में भौतिक मानवशास्त्र के प्रवक्ता बनाये गये। 1942 में दिल का दौरा पड़ने से हुए निधन से पहले अभूतपूर्व अध्यवसाय और सतत मौलिक चिंतन के दम पर फ्रेंज़ बोआस मानवशास्त्र के शीर्ष-पुरुष के रूप में अपना नाम स्थापित कर चुके थे। उनकी स्थापनाओं और उनकी प्रतिभाशाली शिष्य-मण्डली ने आने वाले कई दशकों तक मानवशास्त्र की दुनिया पर अपना बौद्धिक बोलबाला क़ायम रखा।

बोआस की विद्वत्ता और संस्थागत प्रयासों ने मानवशास्त्र को नीचे से ऊपर तक बदल डाला। उनसे पहले मानवशास्त्र समाज का अध्ययन करने के लिए उसे बर्बरता से सभ्यता के बीच के चरणों में बाँट कर देखता था। बोआस ने अपने अध्ययनों के ज़रिये दिखाया कि यह रवैया पद्धति और सिद्धांत के तौर पर बुनियादी तौर से ग़लत है। उन्होंने संस्कृति के किसी एकक और सार्वभौम मॉडल की रचना को असम्भव करार देते हुए अपने छात्रों को विभिन्न समाजों में



फ्रेंज़ उरी बोआस (1858-1942)

सहभागी प्रेक्षक के तौर पर जम कर काम करने का प्रशिक्षण दिया। उनका आग्रह था कि अगर किसी समाज को समझना है तो सहभागी प्रेक्षक को लाजमी तौर पर उसकी भाषा भी सीखना चाहिए। बोआस का कहना था कि जिस समाज का अध्ययन किया जाए, उसके बारीक से बारीक तथ्यों का वर्णन करना ज़रूरी है। उस समाज की रोज़ाना की जिंदगी की कोई भी बारीकी शोधकर्ता के फ़ील्ड वर्क से छूटनी नहीं चाहिए।

अपने युग के अग्रणी समाज वैज्ञानिकों की भाँति बोआस भी बहुमुखी प्रतिभा और विद्वत्ता से सम्पन्न थे। उन्होंने भौतिकशास्त्र में डॉक्टरेट की, और उसके बाद भूगोल का अध्ययन किया। इस प्रक्रिया में विकसित वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करके उन्होंने मानवीय संस्कृतियों और समाजों का अध्ययन करने की परम्परा डाली। उनसे पहले ज्ञान के इस क्षेत्र पर पहले से स्थापित चले आ रहे भारी-भरकम सिद्धांतों और संस्मरणात्मक जानकारियों का बोलबाला रहता था।

बोआस के छात्र और विख्यात मानवशास्त्री अल्फ्रेड क्रोबर समेत कुछ विद्वानों की मान्यता है कि बोआस का बुनियादी अनुसंधान-प्रारूप भौतिकशास्त्रीय वैज्ञानिकता से आक्रांत था। दरअसल, बोआस अपने शोध के लिए भौतिकी के ऊपर इतिहास को स्पष्ट प्राथमिकता देते थे। उनके ऊपर अट्टारहवीं सदी में विकसित हुई उस जर्मन बौद्धिक परम्परा का काफ़ी असर था जो कांट के सार्वभौम बुद्धिवाद और हर्डर द्वारा मानवीय रचनाशीलता की अंतर्निहित विविधता में विश्वास के बीच जोड़ की वकालत करती थी। इस समीकरण

के पैरोकार भाषाशास्त्री-दार्शनिक विल्हेल्म वॉन हुम्बोल्ट थे। इसी परम्परा में गे इतिहासकारों द्वारा विकसित अवधारणाओं को बोआस ने अपने मानवशास्त्र का आधार बनाया। 1887 में लिखे गये अपने एक निबंध 'दि स्टडी ऑफ़ जिओग्राफी' में भौतिक विज्ञान और ऐतिहासिक विज्ञान में फ़र्क करते हुए भूगोल को ऐतिहासिक विज्ञान की श्रेणी में रखने पर जोर दिया। बैफ़िन आइलैण्ड में फ़ील्डवर्क करके लौटने के बाद उन्होंने नृशास्त्रीय वर्गीकरण के सिद्धांत प्रस्तावित किये और उन्हें मानवशास्त्र पर लागू करने का आग्रह किया।

बोआस और उनके छात्रों की दूसरी सबसे बड़ी उपलब्धि मानवशास्त्र को क्रम-विकासीय रवैये से प्रभावित आग्रहों से मुक्त करने की थी। बोआस डार्विन द्वारा प्रतिपादित क्रम-विकास के सिद्धांत के समर्थक थे, लेकिन वे यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि इसे सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिघटनाओं पर भी उसी तरह लागू किया जा सकता है। बोआस और उनके अनुयायियों ने ओर्थोजेनेसिस के आधार पर गढ़ी गयी अवधारणाओं का खण्डन किया। ओर्थोजेनेसिस का मतलब था क्रम-विकास का प्रयोजनमूलक सिद्धांत। इसके तहत मान लिया जाता था कि समाज और संस्कृतियाँ प्राकृतिक चयन से बेपरवाह हो कर क्रमशः एक चरण से दूसरे चरण में विकसित होती चली जाती हैं। एडवर्ड टायलर, लेविस हेनरी मॉर्गन और हर्बर्ट स्पेंसर द्वारा निकाले गये निष्कर्षों का आधार ओर्थोजेनेसिस ही था। जाहिर है कि बोआस की दिलचस्पी डार्विन द्वारा प्रतिपादित क्रम-विकास के पक्ष में क्रम-विकास के ओर्थोजेनेटिक विचार को खारिज करने की थी।

बोआस की निगाह में मॉर्गन के सांस्कृतिक क्रम-विकास और डार्विन के सिद्धांत के बीच फ़र्क साफ़ था। उन्होंने बैफ़िन आइलैण्ड में रहने वाले आइनुइट लोगों के बीच फ़ील्डवर्क किया था, और जर्मन छात्रों के बीच स्नातक स्तर की पढ़ाई की थी। सांस्कृतिक क्रम-विकास के समर्थकों के लिहाज़ से समकालीन होने के नाते आइनुइट लोग जर्मनों के मुकाबले विकास की पूर्व अवस्था में समझे जाने चाहिए थे। जाहिर है कि ऐसे निष्कर्ष डार्विन के सिद्धांत की लोक-प्रचलित समझ (इनसान से पहले बंदर था) की रोशनी में ही निकाले जा सकते थे। जबकि डार्विन का कहना तो यह था कि इनसान और चिम्पांजी के विकास में कोई फ़र्क नहीं है। डार्विन का जोर उस प्रक्रिया को दिखाने में था जिसके तहत एक प्रजाति का रूपांतरण दूसरी प्रजाति में होता है। प्रजातियों और उनके पर्यावरण के बीच संबंध के केंद्र में डार्विन ने 'अनुकूलन' की क्रिया को स्थापित किया और परिवर्तन की विधि को 'प्राकृतिक चयन' के रूप में दिखाया। इसके उलट मॉर्गन, टायलर और स्पेंसर की तरफ़ से संस्कृतियों में परिवर्तन की ऐसी कोई क्रिया और विधि नहीं बतायी गयी

थी। बोआस और उनके अनुयायियों ने यह भी दिखाया कि सांस्कृतिक क्रम-विकास के समर्थकों के ज्यादातर दावे तथ्यों और आँकड़ों की कसौटी पर खरे नहीं उतरते, या उनकी गलत-सलत व्याख्या पर आधारित हैं।

मॉर्गन का कहना था कि मानव समाज पहले मातृवंशीय आधार पर संगठित थे, और उस स्थिति से विकसित हो कर वे पितृवंशीय संगठन पर पहुँचे। इसी आधार पर संग्रहालय में क्यूरेटरों द्वारा मानव प्रगति का सिलसिला दिखाया जाता था। लेकिन बोआस ने अपने अनुसंधान द्वारा ऐसे समाजों का प्रमाण प्रस्तुत किया जो पहले पितृवंशीय थे और फिर विकसित हो कर मातृवंशीय बने। उन्होंने संग्रहालय द्वारा अपनाये जाने वाले वर्गीकरण और कार्य-कारण सिद्धांत की आलोचना करते हुए कहा कि पुरावशेषों के बदलते हुए आकार समाज की प्रौद्योगिकीय प्रगति के प्रतीक नहीं हैं। बल्कि उनके बदले हुए रूप में उन परिस्थितियों को पढ़ा जाना चाहिए जिनके तहत उनका निर्माण और प्रयोग किया गया होगा। मौक्रा मिलने पर हार्वर्ड विश्वविद्यालय के पीबॉडी म्यूज़ियम में बोआस ने पुरावशेषों का वर्गीकरण और प्रदर्शन अपने तरीके से करके सभी को चौंका दिया।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय में बोआस ने कई विभागों को एक करके मानवशास्त्र का विभाग खड़ा किया और उसी के बाद इस अनुशासन में पहला पीएचडी अध्ययन हुआ। इसी दौर में बोआस के प्रयासों से अमेरिकन एंथ्रोपोलॉजिकल एसोसिएशन गठित हुई। इसी दौर में उन्होंने मानवशास्त्र को 'फ़ोर फ़्रील्ड' वाले अनुशासन की अवधारणा दी। खुद उनके अध्ययनों ने भौतिक, भाषायी, पुरातात्विक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान किया। भौतिक मानवशास्त्र में बोआस की कोशिशों के कारण ही नस्ली वर्गीकरण की स्थावर विधियों पर जोर कम हुआ और मनुष्य के जैविकीय क्रम-विकास पर अधिक बल दिया जाने लगा। भाषायी मानवशास्त्र की सीमाओं का बोआस के कारण संज्ञानात्मक अध्ययनों के रूप में विस्तार हुआ। उन्होंने आग्रह किया कि निरक्षर समाजों के अध्ययन के मानक भी वही होने चाहिए जो साक्षर समाजों के अध्ययन के लिए अपनाये जाते हैं। सांस्कृतिक मानवशास्त्र में उन्होंने और बॉनिस्ला मैलिनॉस्की ने संस्कृति के प्रति संदर्भगत दृष्टिकोण की स्थापना की जिसे सांस्कृतिक सापेक्षतावाद के नाम से जाना जाता है।

1911 में बोआस की सबसे महत्वपूर्ण रचना *माइंड ऑफ़ प्रिमिटिव मैन* प्रकाशित हुई। इस अध्ययन में उन्होंने स्थापित किया कि किसी भी समाज और संस्कृति की जैविकी, उसकी भाषा, उसकी भौतिकी और उसके प्रतीकों का संसार अपने आप में स्वायत्त होता है। सांस्कृतिक और गैर-सांस्कृतिक शक्तियों के प्रभाव में हुए ऐतिहासिक विकास

के दौरान मानव प्रकृति की रचना होती है। बोआस ने जोर देकर कहा कि मानव समाज का बुनियादी लक्षण उसकी सांस्कृतिक विविधता है। बोआस की एक अन्य रचना *रेस्, लेंगेवेज एंड कल्चर* उस युग में प्रकाशित होने वाली सबसे प्रभावशाली नस्लवाद विरोधी कृति थी। इस विमर्श में अंतर्निहित समतामूलकता के आग्रह ने मानवशास्त्रियों की आने वाली पीढ़ियों पर गहरा असर डाला। बोआस ने बहुलतावादी मानवशास्त्र की जिस समृद्ध विरासत को अपने पीछे छोड़ा उसे आगे बढ़ाने में उनके सुयोग्य शिष्यों रुथ बेनेडिक्ट, मार्गरेट मीड और अल्फ्रेड क्रोबर ने उल्लेखनीय योगदान किया।

देखें : अल्फ्रेड लुइस क्रोबर, ऑग्युस्त कॉम्त, क्लॉद लेवी-स्ट्रॉस, क्लिफर्ड गीट्ज़, जार्ज ज़िमेल, टैलकॉट पार्संस, डेविड एमील दुर्खाइम, पिएर बोर्दियो, मार्ग्रेट मीड, मारसेल मौज़, मार्गरेट मीड, मिल्टन सिंगर, मैक्स वेबर, रुथ बेनेडिक्ट।

### संदर्भ

1. रुथ बेनेडिक्ट (1943), 'फ्रेंज़ बोआस', *साइंस*, न्यू सीरीज़, खण्ड 97, अंक 2507.
2. फ्रेंज़ बोआस (1911), *हैंडबुक ऑफ़ अमेरिकन इण्डियन लेंगेवेजिज़* (खण्ड 1), ब्यूरो ऑफ़ अमेरिकन एंथ्रोपोलॉजी, बुलेटिन 40, वाशिंगटन.

— अभय कुमार दुबे

## फ्रेंज़ फ़ानो

(Frantz Fanon)

फ्रेंज़ फ़ानो (1925-1961) के रैडिकल विमर्श ने उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांत को गहरायी से अनुप्राणित किया है। उन्होंने संस्कृति के क्षेत्र में जारी औपनिवेशिक प्रक्रियाओं की विस्तार से पड़ताल करते हुए अश्वेत तथा अन्य गैर-यूरोपीय समुदायों के सांस्कृतिक दमन और उत्पीड़न की व्याख्या की है। उनका नाम संस्कृति के माध्यम से उपनिवेशवाद का प्रतिरोध करने वाले विचारकों में भी गिना जाता है। *द रेचेड ऑफ़ द अर्थ* (1961) और *ब्लैक स्किन, व्हाइट मास्क* (1952) उनकी दुनिया भर में प्रसिद्ध और बहुपठित कृतियाँ हैं। अपनी कृतियों में उन्होंने कुचले और भुला दिये गये इतिहास के पुनरान्वेषण के महत्त्व को रेखांकित किया है, जिससे कि उसका इस्तेमाल संस्कृति के क्षेत्र में हीनतर ठहरा दिये गये समुदायों की पहचान और आत्मसम्मान की



फ्रेंज़ फ़ानो (1925-1961)

पुनर्स्थापना के लिए किया जा सके। अफ़्रीकी महाद्वीप में अश्वेत पर गोरों के वर्चस्व और उनके सांस्कृतिक जगत को छिन्न-भिन्न कर देने की साम्राज्यवादी प्रक्रियाओं को उलट देने के लिए फ़ानो ने अश्वेतों के सांस्कृतिक प्रतिरोध का विशेष तौर पर पक्ष लिया और राष्ट्रीय संस्कृति निर्मित करने की ज़रूरत पर बल दिया जो संस्कृतियों को बुरा या अच्छा, उच्च या निम्न में बाँटने की साज़िश को व्यापक रूप से प्रश्नांकित कर सके। अफ़्रीका के देशों में साम्राज्यवाद का प्रभाव काफ़ी था, इसलिए फ़ानो ने बार-बार राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय संस्कृति और अफ़्रीकन-नीग्रो संस्कृति के विकास पर बल दिया और बुद्धिजीवियों के लिए इसके विकास को प्रमुख ज़िम्मेदारी के रूप में परिभाषित किया। अश्वेतों के पक्ष में उनका यह वाक्य किसी लोकप्रिय उक्ति की तरह अक्सर दोहराया जाता है : 'राष्ट्रीय चेतना, जो कि राष्ट्रवाद नहीं है, केवल वही हमें एक व्यापक अंतर्राष्ट्रीय पहचान प्रदान कर सकती है।' उन्होंने प्रतिरोधी चरित्र की राष्ट्रीय संस्कृति के विकास और कहानी कहने वाले समूहों के बीच भी संबंध देखा। कहानी सुनाने वाले राष्ट्रीय संस्कृति के विकास के दौर में ही अपनी जनता से अधिक गहन रिश्ते क्रायम करते हैं। उनकी कल्पनाशीलता व प्रयोग की क्षमता बढ़ जाती है और वे कहानियों के माध्यम से एक नये मनुष्य के जन्म में सहायता करते हैं।

फ़ानो ने उत्पीड़ितों की दमित चेतना के पक्ष में लिखा और इस बात पर निरंतर ज़ोर दिया कि बाह्य गुलामी वास्तव में कुछ मूल्यों व प्रतीकों के आभ्यन्तरीकरण पर निर्भर करती

है जिसमें राजनीतिक, आर्थिक दासता भी अपने अस्तित्व की हीनता के कारण सहज ही स्वीकार कर ली जाती है। यानी आर्थिक रूप से निर्बल समुदाय स्वतः ही प्रजातीय व सांस्कृतिक रूप से हीन घोषित कर दिये जाते हैं। उनके बीच की भिन्नता को भुलाकर उन्हें एक वर्ग में डाल दिया जाता है जैसे कि नीग्रो कहकर सभी अफ़्रीकी समुदायों को श्वेतों की तुलना में हीनतर बना दिया जाता है।

भाषा के क्षेत्र में जारी इस दमन-प्रक्रिया को उन्होंने उदाहरण के रूप में प्रयोग करते हुए दिखाया है कि किस प्रकार फ़्रांस का उपनिवेश होने के कारण क्रियोल भाषा को हीनतर व अनुपयोगी सिद्ध कर दिया गया और शासितों पर यह दबाव डाला गया कि वे अपने औपनिवेशिक शासकों की भाषाओं का प्रयोग करें। अपनी संस्कृति को जीवन-व्यवहार के लिए अपर्याप्त मानने का बोध, प्रभुत्वशाली संस्कृति में स्वयं को स्वीकार कर लेना और स्वयं को उसमें समायोजित कर लेने की इच्छा भी सांस्कृतिक उपनिवेशवाद का परिणाम होती है। फ़ानो ने श्वेत दुनिया के उन मूल्यों को भी आलोचना के दायरे में खींचा जिसके अंतर्गत सार्वभौमिकता, तार्किकता, प्रगति व नस्लवाद के बल पर दुनिया की विभिन्न संस्कृतियों के मध्य ख़ास तरह का श्रेणी-तंत्र तैयार किया जाता है और उन्होंने इतिहास को इन्हीं श्वेत मूल्यों से देखने के स्थान पर उसके बारे में अधिक बहुलतावादी दृष्टिकोण अपनाने की सलाह दी जिससे कि संस्कृतियों में एकरूपता लाने की प्रवृत्तियों पर रोक लग सके। फ़ानो ने शासित संस्कृतियों के संचालकों को भी इस प्रक्रिया का शिकार बनते देखा और बताया कि अगर कुछ संस्कृतियाँ हीनता की क़ैद में चली जाती हैं तो जो लोग श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं वे स्वयं ही उस श्रेष्ठता की क़ैद का शिकार हो जाते हैं। यानी शासक व विजेता लोग स्वयं की मुक्ति को भी असम्भव बना देते हैं। फ्रेंज़ फ़ानो के लेखन ने होमी भाभा और एडवर्ड सईद जैसे उत्तर-औपनिवेशिक विचारकों को गहरायी से प्रभावित किया है।

वेस्टइंडीज की पृष्ठभूमि वाले फ़ानो का जीवन किताबी लेखन के अलावा भी कई मोर्चों पर सक्रिय रहा। उन्होंने द्वितीय विश्व-युद्ध में फ़्रांस की सेना में शामिल होकर युद्ध लड़ा। उसके बाद विश्वविद्यालय में मनोचिकित्सा विभाग में अध्ययन किया। बाद में फ़्रांस की नीतियों से आहत होकर उन्होंने अल्जीरिया में फ़्रांस के प्रभुत्व के खिलाफ़ संघर्ष किया। उन्हीं के शब्दों में : 'अगर मनोचिकित्सा का उद्देश्य यह है कि वह व्यक्ति को अपने समाज से अजनबी होने से बचाये तो मैं यही घोषणा करता हूँ कि अरब इस देश में हमेशा के लिए हर चीज़ से काट दिये गये हैं। उनका अस्तित्व पूरी तरह से कुचल डाला गया है।' फ़ानो ने फ़्रांस की अपनी मनोचिकित्सा विभाग की नौकरी से त्यागपत्र देकर अल्जीरिया के संघर्ष में भागीदारी की। घाना में वे अस्थायी

अल्जीरियन सरकार के राजदूत भी बने और उन्होंने अल्जीरियन सेना की मदद की। घाना में रहने के दौरान उन्हें रक्त-कैंसर का पता चला और इसके बावजूद उन्होंने दस महीने में अपनी पुस्तक *द रेचेड ऑफ़ द अर्थ* को पूरा किया जो उनकी मृत्यु के बाद प्रमुख अस्तित्ववादी विचारक ज्यॉ-पाल सार्त्र द्वारा प्रकाशित की गयी थी। उनकी मृत्यु मेरीलैण्ड में 6 दिसम्बर, 1961 को हुई जहाँ उनका कैंसर का इलाज चल रहा था। मृत्यु के बाद उनके आग्रह के अनुसार ही उनकी देह वापस अल्जीरिया लायी गयी जहाँ अल्जीरियन नैशनल लिबरेशन आर्मी ने उन्हें पूरे सम्मान के साथ दफनाया।

सार्त्र ने ही उनकी अंतिम किताब की भूमिका भी लिखी थी जिसमें उन्होंने कहा था : 'एक विद्रोही की बंदूक उसकी मानवीयता की पहचान होती है।' फ़ानो ने स्वयं भी गोरी नस्लों के वर्चस्व के खिलाफ़ अन्य नस्लों के सम्मान वापसी के लिए सशस्त्र संघर्ष की वकालत की थी। उनका मत था कि उपनिवेशवाद स्वयं में कोई विचारधारा नहीं है क्योंकि यह अपनी हिंसा व क्रूरता को किसी प्रकार का आवरण नहीं पहनाता बल्कि उसे पूरी तीव्रता से व्यक्त करता है। उसकी हिंसा को किसी अधिक बड़ी हिंसा से ही रोका जा सकता है। *रेचेड ऑफ़ द अर्थ* में उन्होंने उपनिवेशवाद के शिकार समुदायों के मनोविज्ञान व उनके संघर्ष के बारे में बेबाक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार श्वेत व अश्वेत के मध्य जो द्वैधता है, जिसमें अश्वेत हमेशा बुरे व श्वेत अच्छे समुदायों के रूप में दिखाये जाते हैं। इसे समाप्त करने के लिए एक पूरी तरह से नयी दुनिया का निर्माण करना पड़ेगा। इस यूटोपियन इच्छा को पूरा करने के लिए उन्होंने समग्र हिंसा पर आधारित समग्र परिवर्तन का रास्ता भी सुझाया और उनके अनुसार यह ऐतिहासिक काम किसानों के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है।

फ़ानो ने युरोपीय सत्ता-संस्कृति के व्यापक प्रभाव का ही केवल तीक्ष्ण खण्डन नहीं किया बल्कि उन्होंने सार्वभौम मानवतावाद को भी आड़े हाथों लिया जो उनके अनुसार ग़ैर युरोपीय नस्लों व संस्कृतियों के उत्पीड़न का ही एक औज़ार बन गया था और इसके मार्फ़त उनके शोषण को सही सिद्ध करना ज़्यादा आसानी से सम्भव हो गया था। इसी कड़ी में फ़ानो ने निरंतर युरोप के खिलाफ़ लिखा और युरोप की हर मामले में फूहड़ नक़ल व अनुकरण को मानवता के सबसे घातक कार्यों में से एक माना। युरोप को उन्होंने अतिक्रमणकारी शक्ति के रूप में देखा जो अपनी हर हिंसा व दुनिया की 80 फ़ीसदी आबादी के औपनिवेशीकरण को अपने ही मूल्यों के बल पर जायज़ ठहराने में कामयाब हो जाता है। इसीलिए उन्होंने उपनिवेशवाद की समाप्ति को किसी आसान रास्ते से सम्भव होते नहीं देखा और कहा कि नवउपनिवेशवाद तीसरी दुनिया के सामने हमेशा से खड़ी

तलख़ सच्चाई है और इससे तभी बचा जा सकता है जबकि देश आर्थिक व सांस्कृतिक स्तर पर आत्मनिर्भर होने की नीति को अंगीकार करे। फ़ानो को उनके आलोचकों ने हिंसा प्रचारक कहकर ख़ारिज करने का प्रयास भी किया है पर फ़ानो के राजनीतिक व सांस्कृतिक दर्शन में हिंसा केवल एक चरण है जो उपनिवेशवाद को समाप्त करने में उपयोगी है और बाद में एक समग्र आत्मनिर्भरता की अवस्था में उसकी आवश्यकता नहीं रह जाती है।

देखें : अश्वेत नारीवाद, अहिंसा-1 और 2, आतंकवाद, आशिस नंदी-1 और 2, उत्तर-औपनिवेशिकता, एडवर्ड विलियम सईद, काला राष्ट्रवाद, क्रांति, हिंसा, संरचनागत हिंसा।

### संदर्भ

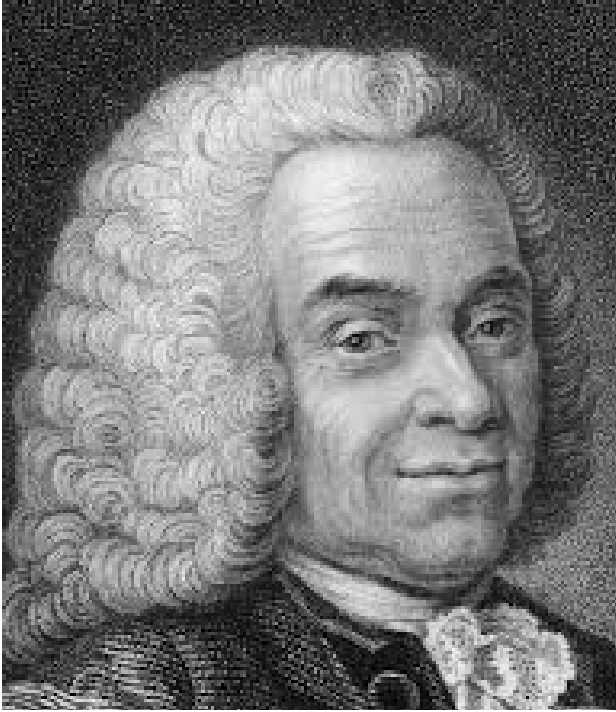
1. फ्रेंज़ फ़ानो (1963), *द रेचेड ऑफ़ द अर्थ* (अंग्रेज़ी अनुवाद), ग्रोव वेडनफ़ील्ड, न्यूयॉर्क.
2. इरेन ग्रैंडजिएर (1974), *फ्रेंज़ फ़ानो, अ क्रिटिकल स्टडी*, वाइल्डवुड हाउस, लंदन.
3. निजेल सी. गिब्सन (2003), *फ़ानो : द पोस्टकोलोनिअल इमेजिनेशन*, पॉलिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. लुइस आर. गार्डन (1995), *फ़ानो ऐंड द क्राइसिस ऑफ़ युरोपियन मैन, ऐन एसे ऑन फ़िलॉसफी ऐंड द ह्यूमेन साइंसेज*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क.
5. डेविड मैके (2000), *फ्रेंज़ फ़ानो, अ बायोग्राफी*, पिकाडोर प्रेस, न्यूयॉर्क.

— वैभव सिंह

## फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद

(Francois Quesnay and Physiocracy)

आर्थिक जीवन केंद्र में मानवीय श्रम की महिमा प्रतिष्ठित करने वाले प्रकृतिवादी चिंतकों को आधुनिक अर्थशास्त्र के पहले विचारकों के रूप में देखा जाता है। इन विद्वानों की मण्डली के प्रमुख फ़्रांस्वा केस्ने (1694-1774) थे जिन्हें मुक्त बाज़ार नीतियाँ (लैसे-फ़ेयर) सर्वप्रथम प्रस्तावित करने का श्रेय भी जाता है। फ़्रांसीसी ज्ञानोदय के दौर में दिदेरो और द'अलेम्बर्ट के सम्पादन में प्रकाशित *इनसाइक्लोपीदी* में केस्ने ने कई लेखों का योगदान किया जिनमें अर्थव्यवस्था के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में धन, माल और लोगों के वृत्ताकार परिसंचरण के रूप में आर्थिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया गया था। इन लेखों को बड़े



फ्रांस्वा केस्ने (1694-1774)

पैमाने पर लोकप्रियता और सराहना मिली। केस्ने के अनुयायियों की संख्या तेजी से बढ़ी और उन्हें फ़ीज़ियोक्रेट की संज्ञा दी गयी। फ्रेंच भाषा में फ़ीज़ियोक्रेसी का अर्थ होता है प्रकृति का शासन। इन लेखों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण था 'कॉर्न' शीर्षक से लिखा गया लेख जिसमें केस्ने ने साबित किया था कि फ्रांसीसी अर्थव्यवस्था में केवल कृषि का क्षेत्र ही उत्पादक है जिसमें उत्पादन लागत से ज्यादा मिलता है। केस्ने का खयाल था कि कृषि से पैदा होने वाले इस अधिशेष का कारण है भूमि के प्रकृति प्रदत्त उत्पादक गुण जिनका दोहन मानवीय श्रम के माध्यम से किया जा सकता है। यह विचार वणिकवादी अर्थशास्त्र के तहत प्रचलित सूत्रों से भिन्न था। इसका मतलब था कि समृद्धि उत्पादन की प्रक्रिया में पैदा होती है न कि वाणिज्य के ज़रिये। चूँकि केस्ने उत्पादन को केवल भूमि और खेती से जोड़ कर ही देख रहे थे, इसलिए उन्होंने साथ में यह भी जोड़ दिया कि कारखाना आधारित उत्पादन से अधिशेष पैदा नहीं हो सकता। उनके विचारों के इस पहलू को आगे चल कर ज़बरदस्त आलोचना का सामना करना पड़ा।

केस्ने से पहले रिचर्ड केंटिलन अर्थव्यवस्था के संचालन की व्याख्या आर्थिक संबंधों के वृत्ताकार परिसंचरण के रूप में कर चुके थे। केस्ने ने इन्हीं विचारों को एक नये धरातल पर ले जाते हुए अपनी कृति *द इकॉनॉमिक टेबिल* (तेब्लो ईकॉनॉमीक या आर्थिक

तालिका) में अर्थव्यवस्था के विभिन्न हिस्सों के आपसी रिश्तों की विस्तार से जाँच की और विश्लेषण की गणितीय विधियों का इस्तेमाल किया। दरअसल, केस्ने अर्थशास्त्र में गणितीय फ़ार्मूलों का प्रयोग करके समग्र अर्थव्यवस्था का मॉडल बनाने वाले पहले विद्वान थे।

फ्रांस्वा केस्ने का जन्म फ्रांस में वर्साई के पंद्रह मील पश्चिम में स्थित एक गाँव मीरी में हुआ था। वे निकोलस केस्ने के तरह बच्चों में से आठवें नम्बर के थे। पिता एक छोटे-मोटे किसान थे। खेतिहर माहौल में पालन-पोषण होने के कारण केस्ने को बचपन में औपचारिक शिक्षा न के बराबर ही मिल पायी। ग्यारह साल की उम्र तक वे निरक्षर ही रहे। फिर एक दयालु माली ने उन्हें लिखना-पढ़ना सिखाया और पड़ोस के एक छोटे शहर की प्राथमिक पाठशाला में उन्हें दाखिला लेने का मौक़ा मिला। खेतों और घर में कठोर परिश्रम करने के बावजूद केस्ने को शुरू से ही पुस्तकों से प्रेम था। वे अक्सर पेरिस तक पैदल जा कर प्लेटो और अरस्तू की रचनाओं की इस्तेमालशुदा प्रतियाँ ख़रीदते थे। 17 साल की उम्र में उन्होंने शल्य चिकित्सक बनने का फैसला किया, मेडिकल परीक्षा पास करके डिग्री हासिल की और पेरिस के दक्षिण में स्थित एक गाँव मांते में प्रैक्टिस शुरू कर दी। 1735 में केस्ने को विलेराँय के ड्यूक का निजी चिकित्सक बनने का मौक़ा मिला। 1744 में उन्होंने औषधि विज्ञान में डॉक्टरेट हासिल की और फ्रांसीसी विज्ञान अकादमी के सदस्य बने। पाँच साल बाद अपने वर्साई निवास के दौरान वे फ्रांस के सम्राट लुई पंद्रहवें की प्रेयसी मादाम द पॉम्पादुर के निजी चिकित्सक तैनात किये गये। पॉम्पादुर राजनीतिक रूप से प्रभावशाली महिला थीं। वर्साई स्थित महल के निचले तल्ले में रहते हुए केस्ने का प्लैट बुद्धिजीवियों का अड्डा बन गया। पॉम्पादुर के कारण डॉक्टर केस्ने को सम्राट का चिकित्सकीय सलाहकार बनने का मौक़ा भी मिला और उनकी स्वास्थ्य संबंधी सलाहों से प्रभावित हो कर लुई उन पर कृपालु हो गया। दिदेरो, हेल्वेतियस, त्युरगो और बुफ़ों जैसे बुद्धिजीवियों की सोहबत में केस्ने अर्थशास्त्र और गणित में दिलचस्पी लेने लगे। उस समय तक आयुर्विज्ञान संबंधी उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। अपनी बौद्धिक ख्याति और सम्पर्कों की बदौलत उन्हें दिदेरो और द'अलम्बर्ट के *इनसाइक्लोपीदी* में लिखने के लिए आमंत्रण प्राप्त हुआ।

केस्ने ने इस धारणा को अपना आधार बनाया कि कोई अर्थव्यवस्था खाद्य, कच्चा माल और खेतिहर माल का उत्पादन करने वाले कृषि क्षेत्र पर निर्भर होती है। फिर नम्बर आता है कारखाना उत्पादन का जिसमें केस्ने ने घरेलू



डेनिस दिदेरो (1713-1784)

व अंतर्राष्ट्रीय वाणिज्य में लगे हुए सेवा क्षेत्र को भी शामिल कर लिया। तीसरा क्षेत्र उन्होंने भू-स्वामियों का माना जो उत्पादन में किसी क्रिस्म का योगदान दिये बिना खेती से पैदा होने वाले अधिशेष पर लगान के रूप में अपना दावा ठोकता रहता है।

द इकॉनॉमिक टेबिल में केस्ने ने दिखाया कि कृषि में जितनी लागत लगती है उससे दोगुना उत्पादन होता है। चूँकि यह पैदावार खेती की बेहतर प्रौद्योगिकी पर भी निर्भर है, इसलिए केस्ने ने ऐसी नीतियाँ भी प्रस्तावित कीं जिनसे पैदावार बढ़ सके। आखिर में केस्ने ने यह मान्यता बनायी कि लगान से होने वाली भू-स्वामी की सारी आमदनी खेतिहर माल और कारखाना आधारित माल के बीच खर्च बराबर-बराबर खर्च हो जाएगी। इस मान्यता के आधार पर ही उन्होंने अर्थव्यवस्था का अपना मशहूर टेढ़ा-मेढ़ा (ज़िग-ज़ैग) मॉडल खड़ा किया।

इसके मुताबिक अगर भू-स्वामी लगान से एक हजार डॉलर कमाता है और उसका आधा खेतिहर और आधा औद्योगिक उत्पादों पर खर्च करता है तो दोनों क्षेत्रों के पास पाँच-पाँच सौ डॉलर पहुँचेंगे। फिर इन दोनों क्षेत्रों में काम कर रहे लोग अपनी-अपनी आमदनी का आधा-आधा दूसरे सेक्टर का माल खरीदने में खर्च करेंगे। इस तरह प्रत्येक उत्पादक सेक्टर ढाई-ढाई सौ डॉलर प्राप्त करेगा। फिर दूसरे दौर में इस अतिरिक्त आमदनी का आधा-आधा दूसरे सेक्टर में उत्पादित वस्तुएँ खरीदने पर खर्च किया जाएगा।

यह प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक वह अतिरिक्त आमदनी बहुत कम नहीं रह जाती। केस्ने ने दिखाया कि अगर खेतिहर उत्पादों पर खर्च होने वाली सभी आमदनी और कारखाना उत्पादन खरीदने पर खर्च की गयी सभी रकम जोड़ दी जाए तो उसका योगफल एक हजार डॉलर में निकलता है। केस्ने के मॉडल की विशेषता यह प्रदर्शित करने में भी थी कि इस सिलसिले में प्रत्येक उत्पादक सेक्टर के भीतर भी अधिशेष पैदा होता है, इसलिए अर्थव्यवस्था के हर क्षेत्र का बारीकी से अध्ययन किया जाना चाहिए।

हालाँकि प्रकृतिवादियों ने वणिक्वादियों की आलोचना की, पर आर्थिक सिद्धांत के प्रयोग के मामले में उनका रवैया एक सा था। दोनों तरह के विद्वानों की कोशिश थी कि आर्थिक सिद्धांतों की व्याख्या करने के बाद नीतिगत सिफारिशें भी की जाएँ ताकि उनके आधार पर आर्थिक वृद्धि अंजाम दी जा सके। चूँकि केस्ने अर्थशास्त्री होने से पहले पेशे से डॉक्टर थे, इसलिए वे तो अर्थव्यवस्था के साथ एक मरीज़ की तरह पेश आते थे। इसलिए अपनी द इकॉनॉमिक टेबिल के अंत में उन्होंने दो तालिकाएँ पेश कीं। एक में फ्रांस की तत्कालीन हालत का मुजाहिरा था, और दूसरी में उनके सुझाये गये नये उपायों के आधार पर हुई सम्भावित प्रगति का तख्मीना था। केस्ने ने एक महत्वपूर्ण सुझाव यह दिया कि करारोपण केवल अनुत्पादक भू-स्वामियों पर किया जाए। कारखानों पर वे कोई टैक्स न लगाया जाए, क्योंकि वे अधिशेष पैदा करने में असमर्थ हैं। केस्ने ने फ्रांसीसी कृषि की पुनर्संरचना और उसके आमूल आधुनिकीकरण की वकालत भी की। वे छोटी जोतों और पुरानी प्रौद्योगिकी के खिलाफ थे। केस्ने ने बचत करने या धन की जमाखोरी की भी निंदा की, क्योंकि उनके मुताबिक उसके कारण धन और माल का वृत्ताकार परिसंचरण रुक जाता है। माँग घट जाती है जिससे राष्ट्रीय उत्पादन में जड़ता आती है। वणिक्वादियों के विपरीत वे राष्ट्रों के बीच मुक्त व्यापार के समर्थक साबित हुए। उनका विचार था कि इससे अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में फ्रांसीसी खेतिहर उत्पादों की माँग बढ़ेगी।

इस विवरण से जाहिर है कि केस्ने के सिद्धांतों में भविष्य का आधुनिक अर्थशास्त्र अपनी अनुगूँजे सुना रहा था। अर्थव्यवस्था में माँग के महत्त्व और खर्च के जरिये आर्थिक वृद्धि प्रोत्साहित करने की तरकीब को समझने के लिहाज़ से वे कींस के पुरोगामी थे। गणितीय मॉडल बनाने के मामले में वे नियोक्लासिकल अर्थशास्त्रियों के पहले प्रेरणास्रोत थे। मुक्त व्यापार प्रस्तावित करने के लिहाज़ से उन्होंने यह कहा जा सकता है कि उन्होंने ऐडम स्मिथ के शिक्षक की भूमिका अदा की। कार्ल मार्क्स ने भी माना है

कि उत्पादन के जरिये आर्थिक अधिशेष प्राप्त करने और उसके जरिये पूँजीवादी अर्थव्यवस्था द्वारा वृद्धि के रास्ते पर चल निकलने की उनकी अंतर्दृष्टि बहुत क्रीमती है।

दिलचस्प बात यह है कि इसके बाद भी केस्ने का महत्त्व वह नहीं है जो ऐडम स्मिथ या अन्य क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का है। पेशेवर अर्थशास्त्रियों की दुनिया के बाहर केस्ने को ज्यादा नहीं जाना जाता। केस्ने की रचना *द इकॉनॉमिक टेबिल काफ्री कठिन शैली में लिखी गयी है जिसे आसानी से नहीं समझा जा सकता। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि वे कारखाना उत्पादन के महत्त्व को समझने में असमर्थ रहे और उन्होंने उसे खेतिहर उत्पादन से कमतर माना। इस संदर्भ में ऐडम स्मिथ ने भी केस्ने की कड़ी आलोचना की है।*

**देखें :** अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुनार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिक्वाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमेन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

## संदर्भ

1. ए.वी. ऐनीकिन (1983), *आर्थिक विज्ञान का युवा काल : मार्क्स-पूर्व का अर्थशास्त्र*, अनुवाद : गिरीश मिश्र, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली।
2. मैक्स बीयर (1939), *ऐन इनक्वारी इन टु फ्रीजियोक्रेसी*, जॉर्ज एलेन ऐंड अनविन, लंदन।
3. हेनरी हिग्स (1897), *द फ्रीजियोक्रेट्स*, मैकमिलन, लंदन, 1897
4. रोनाल्ड मीक (1963), *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ फ्रीजियोक्रेसी : एसेज़ ऐंड ट्रांसलेशंस*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज।
5. गियानी वेज़ी (1987), *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ फ्रांस्वा केस्ने*, ड्यूक युनिवर्सिटी प्रेस, डरहम, नॉर्थ कैरोलिना।

— अभय कुमार दुबे

## फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिए

(Francois-Charls Mary Fourier)

उन्नीसवीं सदी के शुरुआती दौर में फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिए (1772-1837) फ्रांसीसी समाजवादी दर्शन के मुख्य प्रणेताओं में से एक थे। सैं-सिमों और रॉबर्ट ओवेन के साथ उन्हें काल्पनिक समाजवाद के संस्थापकों में से एक माना जाता है। मार्क्सवादी हलकों में उन्हें एक ऐसे सामाजिक दर्शन का प्रतिपादक माना जाता है जो ऐतिहासिक भौतिकवाद का अग्रदूत था। 'फ्रेमिनिज़्म' या नारीवाद शब्द का पहली बार प्रयोग करने का श्रेय भी फूरिए को ही जाता है। हालाँकि वे 'समान अधिकार' के विमर्श को पसंद नहीं करते थे, फिर भी 1808 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *थियरी ऑफ़ द फ़ोर मूवमेंट्स* में उन्होंने दावा किया था कि स्त्रियों को आज़ादी मुहैया कराना सभी तरह की सामाजिक प्रगति का आधारभूत सामान्य सिद्धांत होना चाहिए। उस ज़माने में बौद्धिक जगत पर रूसो के स्त्री विरोधी विचारों का ख़ासा असर था, पर फूरिए ने उसकी परवाह किये बिना माँग की कि लैंगिक आधार पर पाबंदियाँ लगाने के बजाय कौशल, क्षमता और रुझान के आधार पर स्त्रियों को सभी तरह के काम करने की इजाज़त मिलना ज़रूरी है। उन्होंने स्त्री को एक सम्पूर्ण व्यक्ति के रूप में देखने की कोशिश की न कि स्त्री-पुरुष युगल के आधे हिस्से के रूप में। वे पारम्परिक विवाह को स्त्री-अधिकार आंदोलन के लिए नुक़सानदेह मानते थे। फूरिए के दिल में टुकराये हुए प्रेमियों और सेक्शुअल आधार पर ख़ारिज किये जा चुके लोगों के प्रति बड़ा दर्द था। वे समलैंगिकता का समर्थन करते हुए उसे निजी चयन का मामला मानते थे।

फूरिए का जन्म बेसांशों (फ्रांस) के एक धनी व्यापारी के परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा बेसांशों के ही एक जेसुइट कॉलेज में हुई जहाँ उन्होंने विज्ञान, साहित्य और संगीत में असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। कॉलेज के बाद उन्होंने सैनिक इंजीनियरिंग कॉलेज में प्रवेश पाने का विफल प्रयास किया। इसके बाद वे स्वाध्याय में लग गये और साथ में पारिवारिक दबाव में विरासत में प्राप्त व्यापार भी करते रहे, हालाँकि उन्हें अपने इस धंधे से कभी ख़ुशी नहीं मिली। 1793 में फूरिए ने जैकोबिन कान्वेंट के खिलाफ़ लिऑन-विद्रोह में भागीदारी की जिसके विफल होने पर उन्हें जेल जाना पड़ा। उनकी सारी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली गयी। जेल से निकलने के बाद वे फिर बेसांशों लौटे।

तीस साल की उम्र होने तक फूरिए को यकीन हो चुका था कि उनका तो जन्म ही समाज सुधारक बनने के लिए हुआ है। 1808 में भौतिक गति के नियमों की भाँति उन्होंने





फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिए (1772-1837)

सामाजिक गति के नियमों के उद्घाटन का दावा करते हुए अपनी पुस्तक 'चार गतियों और सामान्य भवितव्यों का सिद्धांत' की रचना की। अपने जीवन के अंतिम वर्ष पेरिस में बिताते हुए फूरिए ने बड़े अध्यवसाय के साथ लेखन कार्य जारी रखा। उन्होंने सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, नीतिशास्त्र और शिक्षा संबंधी विषयों पर विचार व्यक्त किये। अक्टूबर, 1837 में पेरिस में ही उनका निधन हुआ।

फूरिए की मान्यता थी एक-दूसरे की चिंता और परस्पर सहयोग ही किसी समाज को सफलता, उत्पादकता में वृद्धि और प्रगति के रास्ते पर ले जा सकता है। उनके खयाल से गरीबी सामाजिक अव्यवस्था का सबसे बड़ा स्रोत थी, न कि ग़ैर-बराबरी। इसलिए वे चाहते थे कि मजदूरों को उनके योगदान के मुताबिक मेहनताना दिया जाए और जो लोग काम करने के क्राबिल नहीं हैं उन्हें भी अपना खर्चा चलाने के लिए ठीक-ठाक क्रिस्म की रकम मिलनी चाहिए।

फूरिए को यक्रीन था कि मनुष्य मुख्यतः 12 क्रिस्म की कामनाओं से संचालित होता है जिसके मुताबिक समाज 810 क्रिस्म के चरित्रों में बाँटा रहता है। इस लिहाज़ से गणना करके फूरिए ने फ़ार्मूला दिया कि एक सामाजिक इकाई (फ़ालांक्स) में 1620 लोग होने चाहिए, क्योंकि छोटी सामाजिक इकाई में ही परस्पर सहयोग और सरोकार सम्भव है। समाज को इस तरह की छोटी-छोटी इकाइयों में बाँट कर नये समाज की परियोजना लागू करने के इच्छुक फूरिए का खयाल था कि दुनिया में एक दिन इस तरह की साठ लाख इकाइयाँ होंगी जिन पर वर्ल्ड कांग्रेस ऑफ़ फ़ालांक्स का

शासन होगा। फूरिए ने कल्पना की थी कि ये छोटी इकाइयाँ चार मंजिले ग्रांड होटलों में रहेंगी जिनमें सबसे ऊपर के तल्ले में सबसे अमीर और सबसे नीचे के तल्ले में सबसे गरीब लोग रहेंगे। जो जैसा काम करेगा उसके पास वैसी सम्पत्ति होगी, और व्यक्ति को उसकी दिलचस्पी और इच्छाओं के हिसाब से काम दिया जाएगा। फूरिए तिजारत को सभी बुगइयों की जड़ मानते थे। चूँकि तिजारत यहूदियों से जोड़ कर देखी जाती थी इसलिए उनका आग्रह था कि छोटी इकाइयों के समुदाय में यहूदियों से खेती का काम करवाया जाना चाहिए। मानवजाति की मुक्ति में शिक्षा की भूमिका पर फूरिए ने विशेष बल दिया था।

फ्रांस में सैं-सिमों की भाँति फूरिए भी 1789 की फ्रांसीसी क्रांति की विफलताओं का संबंध ज्ञानोदय की अवधि में विकसित कुछ विचारों से जोड़ कर देखते थे। उन्हें लगता था कि ज्ञानोदय ने मानवीय प्रकृति को जिस तरह समझा, उसी के कारण क्रांति विनाशकारी रास्ते की तरफ़ भटक गयी। इसी आधार पर दोनों ने अलग-अलग शैली में मनुष्य की सहजात प्रकृति के बारे में अपनी अलग-अलग धारणाएँ बनवाईं और सुधार के जरिये नयी समाज-व्यवस्था गढ़ने की मुहिम चलायी। सैं-सिमों और फूरिए को यक्रीन था कि मनुष्य का मानस बदला जा सकता है और उनकी रची गयी व्यवस्था में रहने वाले लोग परस्पर अन्योन्य-क्रिया करते हुए समरसता को प्राप्त कर सकते हैं। जाहिर था कि इस सामाजिक परियोजना में ज्ञानोदय के विचारों की आलोचना निहित थी।

फ्रांसीसी राजनीति पर फूरिए के विचारों का असर 1848 की क्रांति और पेरिस कम्यून तक देखा जा सकता है। उनकी प्रेरणा से उन्नीसवीं सदी के अमेरिका में कई कम्यून बसाये गये जिनमें ओहाइयो का यूटोपिया नामक कम्यून बहुचर्चित हुआ। फ्रांस में विफल प्रयोगों के बाद अमेरिका जा कर छोटी सामुदायिक इकाई की स्थापना की कोशिश करने वाले विक्टर कोंसीदेरों फूरिए के प्रमुख अनुयायियों में से एक थे। बीसवीं सदी में सुर्रियलिस्ट चित्रकारों से लेकर मार्क्सवाद की रूढ़िमुक्त व्याख्या करने वाले फ्रैंकफर्ट स्कूल के प्रमुख चिंतक वाल्टर बेंजामिन तक पर उनका प्रभाव मिलता है।

उन्नीसवीं सदी के तीसरे से चौथे दशक के बीच कई वर्ष तक फ्रांस में फूरिएवाद मुख्य समाजवादी प्रवृत्ति रहा। एक तरह से यह विचार सैं-सिमों से ज़्यादा टिकाऊ साबित हुआ। इसमें सैं-सिमों के धार्मिक पहलुओं की झलक नहीं थी। वह अधिक यथार्थवादी उपभोक्ता सहकारी इकाइयों की तजवीज़ करता था। लेकिन फूरिएवाद की मुख्य सीमा यह थी की उसे फ्रांसीसी मजदूरों के बीच कम और युवा बुद्धिजीवियों के बीच अधिक लोकप्रियता प्राप्त थी। 1848

की क्रांति ने फूरिआदियों को विचारों की दुनिया से निकल कर राजनीतिक कार्रवाई की जमीन पर सक्रिय होने के लिए मजबूर किया। मार्क्सवादी विद्वानों की मान्यता है कि इस दौरान उनकी गतिविधियाँ और राजनीतिक मुद्रा ज्यादा से ज्यादा निम्न-पूँजीवादी क्रिस्म की थीं। उन्होंने जून के लोकप्रिय विद्रोह का समर्थन नहीं किया और एक वर्ष बाद लुई बोनापार्ट की सरकार को चुनौती देने की कोशिश की जिसे आसानी से कुचल दिया गया। जो थोड़े-बहुत फूरिआवादी बच गये, उन्होंने सहकारी गतिविधियों में भाग लेना शुरू कर दिया।

मार्क्स और एंगेल्स ने फूरिआ के कई सिद्धांतों, मौलिक अंतर्दृष्टियों और विश्लेषणों की प्रशंसा की है, पर साथ में उन पर वर्ग संघर्ष से दूर रहने की प्रवृत्तियों आरोप भी लगाया है। मार्क्स का फूरिआदियों के बारे में कहना था कि उन्होंने अपने गुरु की शिक्षा के रैडिकल मर्म को न समझ कर उसे निम्न-पूँजीवादी गतिविधियों में खपा दिया। 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' में मार्क्स और एंगेल्स ने सैं-सिमों और रॉबर्ट ओवेन के साथ फूरिआ के चिंतन को भी यूटोपियायी समाजवाद की श्रेणी में डाल कर कुछ इस तरह परिभाषित किया है : 'वर्ग संघर्ष की अविकसित स्थिति और उनके अपने माहौल के कारण इस क्रिस्म के समाजवादी खुद को सभी तरह की वर्ग-शत्रुताओं से परे मान बैठे थे। वे समाज के सभी सदस्यों, यहाँ तक कि सर्वाधिक सुविधाभोगियों तक की स्थिति में सुधार करना चाहते थे। यही वजह है कि वे बिना वर्ग-भेद किये हुए आदतन पूरे समाज से अपील करते रहते थे, और कुल मिला कर प्राथमिकता शासक वर्ग को ही मिल जाती थी।' मार्क्स ने कहा कि ऐसे समाजवादी चिंतक सभी तरह की राजनीतिक और क्रांतिकारी कार्रवाई को खारिज करके छोटे-छोटे प्रयोगों, शांतिपूर्ण प्रयासों, शिक्षा और सुधार के जरिये एक नये सामाजिक धर्म-सिद्धांत की स्थापना करना चाहते थे जो विफल होने के लिए अभिशप्त था।

**देखें :** अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफर्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा का मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रंत चेतना, बोलशेविक क्रांति, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, वाल्टर बेंजामिन, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति,

सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

### संदर्भ

1. ए.वी. एनिकन (1983), *आर्थिक विज्ञान का युवाकाल : मार्क्स-पूर्व का राजनीतिक अर्थशास्त्र*, अनुवाद : गिरीश मिश्र, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. जॉर्ज लिचहीम (1969), *द ऑरिजिंस ऑफ़ सोशल्लिज़्म*, वीडनफ़ेल्ड एंड निकल्सन, लंदन.
4. जाक रॉसिएर (2009), *सर्वहारा रातें : उन्नीसवीं सदी के फ्रांस में मजदूर-स्वप्न*, अनुवाद : अभय कुमार दुबे, सीएसडीएस-सराय-वाणी, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

## फ्रांसीसी क्रांति

(French Revolution)

फ्रांसीसी क्रांति (1798-1799) आधुनिक विश्व की ऐसी पहली घटना थी जिसके बाद क्रांति का मतलब नये समाज की रचना का पर्याय समझा जाने लगा। इससे ठीक पहले हुई अमेरिकी क्रांति उपनिवेशवाद के खिलाफ़ गणतांत्रिक मूल्यों की जीत होते हुए भी केवल शासकों और व्यवस्था के कुछ पहलुओं को ही बदल सकी थी। फ्रांसीसी क्रांति ने न केवल सामंतवाद के बंधन में जकड़े फ्रांस को आमूल-चूल बदल डाला, बल्कि सारी दुनिया को प्रभावित करने वाली ऐसी नयी विचारधाराओं को जन्म दिया जिनका दावा था कि नया समाज बनाने के लिए अतीत से कुछ लेना ज़रूरी नहीं होता। मार्क्स के क्रांतिकारी सिद्धांत काफ़ी-कुछ इसी क्रांति और उसके फलितार्थों के अनुभव पर आधारित थे। फ्रांसीसी क्रांति ने एक नये राष्ट्र (हैती) की रचना ही नहीं की, बल्कि राष्ट्रवाद के आधुनिक सिद्धांत को भी जन्म दिया जो युरोपीय युद्धों के दो दशकीय सिलसिले के दौरान पूरे पश्चिम युरोप में फैलता चला गया। नवजागरण काल में विकसित समानता, बराबरी और भाईचारे के उसूलों को सार्वभौमिक मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित करने वाली इस क्रांति को सच्चे अर्थों में नयी दुनिया की बुनियाद रखने का श्रेय दिया जा सकता है।

1789 से पहले फ्रांस सामंतवाद और निरंकुश राजशाही की भींच में था। राजा कुलीन वर्ग पर कोई टैक्स नहीं लगाता था ताकि उसकी नीतियों में सामंतों द्वारा हस्तक्षेप न हो। राजस्व उगाहने के लिए समाज के बहुसंख्यक ग़ैर-

कुलीन हिस्से से भारी टैक्स वसूला जाता था। चूँकि पैसे वाले कोई कर नहीं देते थे, इसलिए हुकूमत हमेशा ही राजकोषीय संकट की शिकार रहती थी। हालात यह थी कि ख़जाने के लिए ओहदों और कुलीनता की सनदों तक को बेचा जाने लगा था। इसी वित्तीय विशेष सुविधा के कारण फ्रांसीसी कुलीन वर्ग को इंग्लैण्ड जैसी संसदीय प्रणाली विकसित करने की ज़रूरत महसूस नहीं होती थी। फ्रांसीसी सम्राट लुई पंद्रहवें ने कई युद्ध लड़े जिनका बोझ ख़जाने पर पड़ा। उसके बाद लुई सोलहवें ने अमेरिकी क्रांति के दौरान इंग्लैण्ड विरोधी भूमिका निभायी और वहाँ के क्रांतिकारियों को गोला-बारूद और रसद की मदद पहुँचायी। नतीज़े के तौर पर वित्तीय हालत बेहद ख़राब हो गयी और राष्ट्रीय ऋण असह्य हो गया। जनता पर करों का बोझ बढ़ा। फ्रांस के सबसे बड़े भू-स्वामी कैथोलिक चर्च ने फसलों पर एक अलोकप्रिय क्रिस्म का टैक्स थोप दिया जिसके कारण आबादी के एक बड़े हिस्से के लिए दो जून का खाना मुहाल हो गया। दूसरी तरफ़ कुलीन वर्ग और दरबार के नुमाइंदों का भोग-विलास जारी रहा। वर्साई के राजप्रासाद में रानी मैरी-आन्त्वाँ की फ़िज़ूलखर्चियों का तो कोई ठिकाना ही न था।

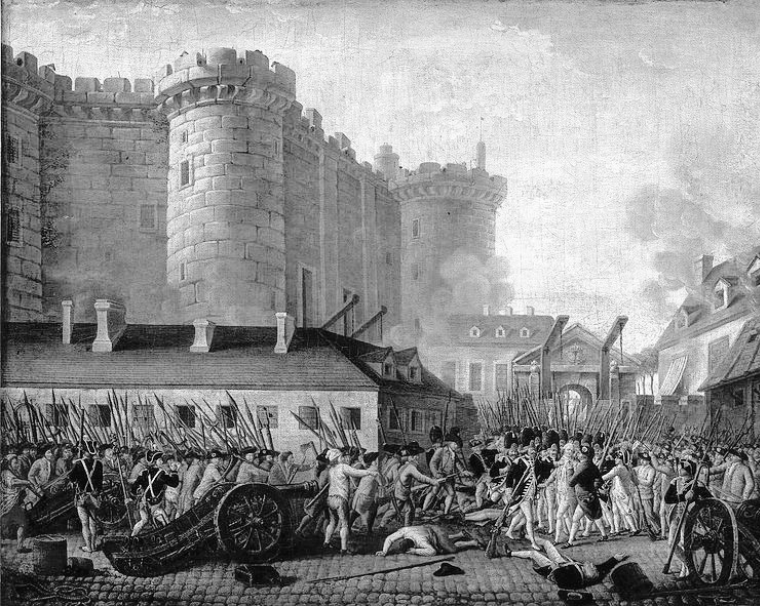
यह दौर कई मोर्चों पर राजशाही की नाकामियों का था। न तो पुराने सैनिकों और अफ़सरों के लिए किसी तरह की सामाजिक सुरक्षा का इंतज़ाम था, न ही उसे रोज़गार की चिंता थी और न ही रोटी के बढ़ते हुए दामों की। 1774 में फसल ख़राब हो जाने से भुखमरी के कारण ग़रीबों की मौत हो जाना आम बात हो गयी। पेरिस में खाद्यान्न को लेकर दंगे तक हुए। राजशाही की निरंकुशता और कुलीनों व पादरियों की विशेष सुविधाओं के ख़िलाफ़ चौतरफ़ा असंतोष का माहौल था जिसके तहत समाज के अधिकतर वर्गों के सोचने-समझने वाले हिस्सों के बीच नवजागरण द्वारा स्थापित मनुष्य के अविभाज्य अधिकारों का आदर्श धीरे-धीरे एक सामाजिक-राजनीतिक तर्क ग्रहण करने लगा। लुई सोलहवें ने तुरगोत जैसे प्रतिष्ठित प्रकृतिवादी और आर्थिक मामलों के विशेषज्ञ को वित्तीय बागडोर सौंपी, लेकिन वे भी अपने नेक इरादों के बावजूद हालात को बदलने में सफल नहीं हो पाये।

तुरगोत जैसे मंत्रियों ने जब कुलीन वर्ग और पादरियों की सुविधाएँ और खर्चे कम करने की तजवीज़ की तो उससे निबटने के लिए सुविधाभोगी वर्गों ने 1789 में डेढ़ सौ साल से भी ज़्यादा ठंडी पड़ी एस्तातेज़ जेनराल की बैठक बुलायी। वोटिंग अधिकारों पर हुई पेचीदा राजनीति के बाद हुए निर्वाचन के परिणामस्वरूप इस सभा में पहली एस्तात यानी सामंतों के 291, दूसरी एस्तात यानी पादरियों के 300 और तीसरी एस्तात यानी बाक़ी फ्रांस के 610 प्रतिनिधि चुने गये। इन सभी की बैठक होते ही तीसरी एस्तात अलग हो गयी। उसने जनता के प्रतिनिधि के रूप में ख़ुद को राष्ट्रीय एसेम्बली

घोषित करने का रैंडिकल क़दम उठा लिया और शपथपूर्वक संविधान बनाने में जुट गयी। इसी दौरान पेरिस और उसके आस-पास फ़ौज जमा होने लगी। लोगों को लगा कि ये सैनिक राष्ट्रीय संविधान सभा का काम रोकने के लिए बुलाये गये हैं। उधर सम्राट ने अपने वित्तीय सलाकार नेकर को तीसरी एस्तात का मार्गदर्शक होने के आरोप में बर्खास्त कर दिया। इस ख़बर ने आग में घी का काम किया। अब तक पेरिस में हालत यह हो चुकी थी कि एक तरफ़ वर्साई में संविधान सभा बिना विश्राम के संविधान बनाने में लगी थी, दूसरी ओर शहर में दंगे हो रहे थे और लूटमार चल रही थी। विद्रोह के लिए उतावले हो रहे लोगों को जल्दी ही फ्रेंच गार्ड्स का समर्थन मिल गया। अब उनके पास हथियार और प्रशिक्षित सिपाही भी थे। उन्होंने पेरिस स्थित बास्ती क्रिले पर धावा बोला जिसे जेल के तौर पर इस्तेमाल किया जाता था और जो जनता की निगाहों में निरंकुशता के प्रतीक की हैसियत ले चुका था। कई घंटों के संघर्ष के बाद बास्ती पर क़ब्ज़ा करके उसे ढहा दिया गया। गवर्नर मारक्विस बर्नार्ड का सिर भाले पर टाँग कर सारे शहर में घुमाया गया, और शहर के मेयर को गोली मार दी गयी। संविधान सभा के अध्यक्ष ने पेरिस के मेयर का पद सँभाला और सत्ता का नया ढाँचा स्थापित हुआ जिसे *क़म्यून* कहा गया। बास्ती के क्रिले पर हुआ हमला फ्रांसीसी क्रांति की केंद्रीय घटना है जिसके प्रतीकात्मक महत्त्व के कारण 14 जुलाई का दिन फ्रांस में राष्ट्रीय अवकाश के रूप में मनाया जाता है। 4 अगस्त को संविधान सभा द्वारा सामंतवाद का उन्मूलन कर दिया गया। पादरी वर्ग की सम्पत्ति राष्ट्र की सम्पत्ति घोषित कर दी गयी। अक्टूबर में क़रीब सात हज़ार स्त्रियों ने तोपों और छोटे हथियारों से लैस हो कर वर्साई की तरफ़ कूच किया। राजप्रासाद पर हुए हमले और हिंसा के कारण सम्राट को अपने लाव-लशकर के साथ पेरिस रहने के लिए आना पड़ा।

इसके बाद के घटनाक्रम में क्रांतिकारी प्रक्रिया उत्तरोत्तर अतिवादी रूप ग्रहण करती चली गयी। विभिन्न दलबंदियाँ उसका नियंत्रण अपने हाथ में लेने के लिए होड़ करने लगीं। 1791 में सम्राट ने पलायन की कोशिश की पर उसे गिरफ़्तार कर लिया गया। 1792 में राजशाही का उन्मूलन करके फ्रांस को गणराज्य घोषित किया गया। सम्राट पर मुक़दमा चला कर 1793 में उसे मौत की सज़ा दी गयी। क्रांतिकारियों ने नये कलैण्डर को मान्यता दी। इस प्रकार *एंसिऐन रेज़िम* (पुराना राज्य) का अंत हुआ।

यही वह अवधि थी जब फ्रांसीसी राजनीति में राजनीतिक क्लबों का उभार हुआ जिसमें जैकोबिन क्लबों की अगुआ भूमिका थी। प्रति-क्रांति की देशी-विदेशी कोशिशों के मुक़ाबले क्रांति की रक्षा करने के नाम पर जैकोबिन नेता और वकील मैक्समिलियन रॉबस्पिएर के नेतृत्व में कमेटी



पेरिस स्थित बास्ती के किले पर धावा

फ़ॉर पब्लिक सेफ्टी का गठन हुआ जिसका नतीजा 1793-94 के बीच दिल दहला देने वाले आतंक के साम्राज्य के रूप में निकला। अभिलेखागारों में दर्ज रिकॉर्डों के अनुसार इस दौरान 16,594 लोगों को गिलोटिन पर मौत की सजा मिली। आतंक के साम्राज्य की शुरुआत में गिलोटिन पर लुई सोलहवें और मैरी-अंत्वोन्यत का रक्त लग ही चुका था। कुछ इतिहासकार तो यह भी मानते हैं कि इस अवधि में करीब चालीस हजार लोग सरसरी तौर पर या बिना मुकदमा चलाये मौत के घाट उतार दिये गये। 1794 में रॉब्सपिएर के सत्ता से अपदस्थ होने और मौत की सजा पाने तक यह सिलसिला चलता रहा। आतंक के बाद 22 अगस्त, 1795 को फ्रांस का संविधान पारित हुआ जिस पर मुहर लगाने के लिए जनमतसंग्रह कराया गया। संविधान के पक्ष में 1,057,000 और विपक्ष में 49,000 वोट पड़े।

फ्रांसीसी क्रांति सुविधाभोगी वर्ग द्वारा शुरू की गयी थी, पर उसका नियंत्रण बहुत जल्दी ही मध्य वर्ग के हाथों से होते हुए निम्न वर्ग के हाथ में चला गया। इसी निम्न वर्ग के समर्थन से रॉब्सपिएर को सत्ता मिली थी। उसके पतन के बाद क्रांति एक बार फिर मध्य वर्ग के हाथों में चली गयी। इसके बाद शासन चलाने के कई रूप आजमाये गये लेकिन कोई भी टिकाऊ साबित नहीं हो पाया। क्रांतिकारियों की इस लगातार नाकामी का नतीजा 1799 में नेपोलियन बोनापार्ट द्वारा किये गये तख्ता पलट में निकला।

फ्रांसीसी क्रांति के बारे में सबसे बड़ा विवाद यह है कि नवजागरण के विचारों का उसके घटनाक्रम से क्या संबंध था? नवजागरण के आदर्शों से उसका सीधा संबंध जोड़ा जाता है, जबकि इस रिश्ते में कई जटिलताएँ भी हैं। क्रांति

की अनुदारवादी आलोचना (खास तौर से एडमण्ड बर्क द्वारा) का दावा है कि रॉब्सपिएर का क्रांतिकारी अतिवाद रूसो के विचारों से निकला था। एक तरह से यह दावा सही भी है क्योंकि रॉब्सपिएर और उनके साथी रूसो के नाम का ही दम भरते थे। इसमें कोई शक नहीं कि पेरिस के जैकोबिन क्लबों के दार्शनिक सदस्यों में सर्वाधिक लोकप्रिय रूसो ही थे। क्रांति के प्रेरणास्रोत के रूप में रूसो को मानने के कारण ही बाद में उन्हें फ्रांस के राष्ट्रीय नायक का दर्जा भी दिया गया। लेकिन यह एक हकीकत है कि रूसो समेत नवजागरण के चिंतकों ने जिस संशयवादी बुद्धिवाद की वकालत की थी, उसमें न तो अतिवाद था और न ही क्रांति के दौरान अपनाये गये राजनीतिक समाधानों का कोई स्थान था।

मार्क्सवादी व्याख्या कहती है कि क्रांति सामंती कुलीन वर्ग और पूँजीवादी वर्ग के बीच संघर्ष का परिणाम थी। कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि *ऑसिएँ रेज़ीम* के तहत चल रही पुरानी कुलीनवर्गीय व्यवस्था को उदीयमान पूँजीपति वर्ग, नाराज़ किसानों और शहरी वेतनभोगियों के गठजोड़ के सामने हथियार डालने पड़े। एक अन्य व्याख्या इस गठजोड़ को किसी सुचिंतित योजना का परिणाम न मान कर संयोग के रूप में देखती है। इस व्याख्या के अनुसार कुलीन वर्ग और पूँजीपति वर्ग द्वारा चलाये जा रहे विभिन्न सुधार आंदोलनों के नियंत्रण से बाहर हो जाने के कारण क्रांति की नौबत आयी। क्रांति के ठीक पहले गरीबी में हुई बेतहाशा वृद्धि का कारण कुछ विद्वानों की निगाह में कई साल से चल रहे मौसम के बदलावों में देखा जाता है। इस व्याख्या के पक्ष में 1783 में 'लाकी इरप्शन' और उसके बाद पैदा हुआ ज़बरदस्त एल निनो प्रभाव के तर्क दिये जाते हैं।

देखें : अमेरिकी क्रांति, औद्योगिक क्रांति-1 और 2, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, क्यूबा की क्रांति, चीन की कम्युनिस्ट क्रांति, थॉमस पेन, दास प्रथा, बोल्शेविक क्रांति, युरोपीय पुनर्जागरण, युरोपीय ज्ञानोदय, सन् 1857 का संग्राम-1, 2, 3 और 4.

### संदर्भ

1. जॉर्ज रुड (1991), *द फ्रेंच रेवोल्यूशन : इट्स काँजेज़, इट्स हिस्ट्री एंड इट्स लीगेसी आफ्टर 200 इयर्स*, ग्राव प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. अल्बर्ट सोबोडल (1997), *अ शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ़ द फ्रेंच रेवोल्यूशन*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, कनेक्टिकट.
3. जॉर्ज लेफ्रेब्र (1971), *द फ्रेंच रेवोल्यूशन : फ्रॉम इट्स ओरिजिंस टु 1793*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, मैसाचुसेट्स.
4. फ्रिस्टोफर हिब्वर्ट (1980), *द डेज़ ऑफ़ द फ्रेंच रेवोल्यूशन*,

- क्विल, विलियम मोरो, न्यूयॉर्क.
5. विलियम डॉयल (1990), *द ऑक्सफ़र्ड हिस्ट्री ऑफ़ द फ्रेंच रेवोल्यूशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
  6. एडमण्ड बर्क (सम्पा. : सी.सी. ओ'ब्राइन) (1967), *रिफ्लेक्शंस ऑन द रेवोल्यूशन इन फ्रांस*, पेंगुइन, हारमंड्सवर्थ.

— अभय कुमार दुबे

## फ़क़ीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता

(Faqir Mohan Senapati and Odia Identity)

ओडीशा के सांस्कृतिक अग्रदूत फ़क़ीर मोहन सेनापति (1843-1918) आधुनिक ओडिया अस्मिता के निर्माता थे। उन्हें ओडिया भाषा के पुनरुत्थान का श्रेय भी दिया जाता है। अलग ओडिया पहचान का दावा भाषा और संस्कृति पर आधारित था और इस भाषायी आंदोलन के कर्णधार के रूप में उन्होंने भाषा-अस्मिता की लड़ाई के सफल अभियान का नेतृत्व किया। सेनापति ने उन्नीसवीं सदी में न केवल ओडिया माध्यम से शिक्षा सुलभ कराने के लिए कई पाठ्यपुस्तकों की रचना की, बल्कि मूल संस्कृत से रामायण, महाभारत, भगवद्गीता, उपनिषदों, पुराणों का ओडिया में अनुवाद किया। उन्होंने केवल चार उपन्यास लिखे, लेकिन उनकी गिनती ओडिया की सर्वकालीन सर्वश्रेष्ठ रचनाओं होती है। इन रचनाओं में ओडीशा के ऐतिहासिक-सामाजिक परिदृश्य का सूक्ष्म व सटीक चित्रण किया गया है। फ़क़ीर मोहन द्वारा रचित उपन्यास *छ मन अथा गुंथा* को हिंदी में मुंशी प्रेमचंद के *गोदान* के समकक्ष माना गया है, हालाँकि यह रचना प्रेमचंद के बहुत पहले लिखी गयी थी। इस उपन्यास में फ़क़ीर मोहन ने तत्कालीन औपनिवेशिक शासन, जातिवादी ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था, ग्रामीण ओडीशा की असीमित दरिद्रता, मानव स्वभाव की बारीकियों और लोगों के मनोभावों का अद्वितीय वर्णन किया है। ओडिया में लघु कथाएँ लिखने का प्रचलन भी फ़क़ीर मोहन ने ही शुरू किया। अपनी पच्चीस कहानियों के माध्यम से उन्होंने सामाजिक कुरीतियों और ओडिया समाज की विसंगतियों पर करारा प्रहार किया। एक कवि को रूप में फ़क़ीर मोहन की कविताएँ बौद्ध अवतार, पूजा फूल, धूलि ओडिया काव्य की महानतम कृतियाँ मानी जाती हैं। फ़क़ीर मोहन ने लेखन को अपना सामाजिक दायित्व मान कर उसके जरिये समाज में परिवर्तन

लाने का प्रयास किया। उपदेशात्मक शैली का इस्तेमाल करने के बजाय वे व्यंग्यात्मक लहजे में गम्भीर बात कहने की विशिष्ट शैली अपनाते थे।

आधुनिक ओडीशा की सांस्कृतिक रचना में फ़क़ीर मोहन के योगदान को समझने के लिए पहले अंग्रेजों के शासनकाल में उत्कल प्रदेश की स्थिति पर एक नज़र डालना ज़रूरी है। अंग्रेज़ी भाषा व अंग्रेज़ी शिक्षा व्यवस्था से निकला भारतीय वर्ग न केवल निजी क्षेत्रीय भाषा-संस्कृति को दूसरे दर्जे की मानता था, बल्कि भारत की अन्य विविध क्षेत्रीय भाषाओं व संस्कृतियों के प्रति भी उनके मन में तिरस्कार का भाव था। ब्रिटिश शासन के ही तहत भारत में एक आंतरिक उपनिवेशवाद की नींव भी पड़ी। इसके तहत कुछ क्षेत्रों का विकास हुआ, और कुछ की उपेक्षा हुई। ब्रिटिश शासन में मुम्बई, मद्रास व कोलकाता के विकसित भारतीयों के मुकाबले इनके पड़ोसी राज्य के निवासियों को अपनी क्षेत्रीय पहचान बनाये रखने के लिए वैचारिक-बौद्धिक स्तर पर कड़ा संघर्ष करना पड़ा। इसका एक उदाहरण ओडीशा है। इस संघर्ष ने न केवल उड़ीसा की क्षेत्रीय पहचान की रक्षा की, बल्कि ओडिया भाषा, उसके साहित्य और रचनात्मकता का अभूतपूर्व विकास भी किया।

ओडीशा का साम्राज्य एक समय उत्तर में गंगा नदी से लेकर दक्षिण में कावेरी तक की विशाल भूमि में फैला हुआ था। लेकिन सत्रहवीं सदी के अंत तक यहाँ के लोग बदहाली के शिकार हो गये। पहले उन्हें मुगलों-अफ़गानों का दमनकारी शासन झेलना पड़ा और उसके बाद मराठा हुकूमत द्वारा किये गये शोषण के कारण ओडीशा के लोग बेहद खराब स्थिति में पहुँच गये। 1803 में ब्रिटिश शासकों ने क्रानून-व्यवस्था के नाम पर जब ओडीशा पर क़ब्ज़ा किया तो पूरे प्रांत में केवल तीन ज़िले कटक, पुरी और बालासोर बचे थे। शेष ओडिया भाषी इलाके बंगाल प्रेसीडेंसी, मद्रास प्रेसीडेंसी और केंद्रीय प्रेसीडेंसी के हवाले किये जा चुके थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भी यहाँ के लोगों का ज़बरदस्त आर्थिक शोषण किया। ब्रिटिश कम्पनी ने गुमाश्ते के रूप में पड़ोसी राज्य बंगाल के लोगों को भारी संख्या में तैनात किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारी ओडीशा के ज़मींदारों की मालगुजारी और लगान अचानक बहुत ज़्यादा बढ़ा देते थे। जब ओडिया ज़मींदार अपना बढ़ा हुआ लगान देने में चूक जाते तो कोलकाता के फ़ोर्ट विलियम में सूर्यास्त के पहले उनकी ज़मींदारी की नीलामी कर दी जाती थी। इस प्रक्रिया को ओडीशा में सनसेट लॉ के नाम से जाना जाता था। एक अध्ययन के अनुसार 1804-1816 के बीच करीब 52 फ़ीसदी ओडिया ज़मींदारों की ज़मीन उनसे छीन कर बंगाली गुमाश्तों को दे दी गयी। जायदाद से बेदखली के इस व्यापक अभियान से क्षुब्ध होकर सन 1817 में स्थानीय उड़िया लोगों ने विद्रोह

कर दिया जिसे पाईक विद्रोह के नाम से जाना जाता है। ब्रिटिश कम्पनी की फ़ौजों ने इस विद्रोह को कुचल दिया और इसके बाद स्थानीय लोगों के पास सम्पूर्ण पराधीनता के सिवा और कोई चारा नहीं बचा।

शिक्षित बंगाली समाज के डॉक्टरों, प्रोफ़ेसरों, इंजीनियर, वकील, नौकरशाहों और व्यापारियों के रूप में ओडीशा के जीवन के सभी पहलुओं बंगाल का बोलबाला हो गया। बांग्लाभाषियों को यकीन हो गया कि अब ओडिया भाषा को हटाने और ओडीशा में आधिकारिक भाषा के रूप में बांग्ला भाषा की स्थापना करने का समय आ गया है। मार्च, 1869 में प्रसिद्ध बंगाली विद्वान राजेंद्र लाल मित्र ने एक व्याख्यान में आग्रह किया कि उत्कल के हर शुभचिंतक को उत्कल की भाषा के स्थान पर बांग्ला भाषा का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि जब तक उत्कल भाषा का अंत नहीं होगा तब तक इस राज्य का विकास असम्भव है। इसी दौरान पुरी ज़िला स्कूल के एक शिक्षक कांतिलाल भट्टाचार्य ने एक पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक था *ओडिया स्वतंत्र भासानोई*। अपनी भाषा को हटाने के इन प्रयासों का स्थानीय उड़िया लोगों ने पुरजोर विरोध किया। इस अभियान की अगुआई की *उत्कल दीपिका* के सम्पादक गौरी शंकर राय और बालासोर शहर के फ़क्रीर मोहन सेनापति ने। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप तत्कालीन कम्पनी प्रशासन ने ओडीशा के स्कूलों में ओडिया माध्यम से पढ़ाने का निर्णय लिया। अब समस्या यह आयी कि पढ़ने-पढ़ाने के लिए ओडिया में पाठ्यपुस्तकें तो उपलब्ध थी ही नहीं। फ़क्रीर मोहन सेनापति ने पहल करके स्वयं ओडिया में अंकगणित, ओडिया व्याकरण और दो खण्डों में भारतीय इतिहास पर पाठ्यपुस्तकें लिखी जिन्हें बालासोर उत्कल प्रेस से 1869-70 में प्रकाशित किया गया।

फ़क्रीर मोहन के पूर्वज कटक ज़िले के थे लेकिन बाद में वे बालासोर चले आये थे। यहीं मल्लिकाशपुर गाँव में 13 जनवरी, 1843 को बालक ब्रज मोहन का जन्म हुआ। अपने बचपन में इस बालक ने अपने पिता लक्ष्मण चरण और माँ तुलसी देवी को खो दिया। बालक की दादी कुचिला देवी, जिसे वे ठाकुर माँ बुलाते थे, ने उनकी परवरिश की। ब्रज मोहन एक बीमार बच्चा था। उसकी दादी ने एक मुसलमान दरगाह पर मनौती माँगी कि यदि बालक जीवित बच रहा तो वे उसे फ़क्रीरी के लिए दे देंगी। जब ब्रज मोहन का स्वास्थ्य सुधर गया तो दादी बच्चे को छोड़ने को राजी नहीं हुईं। समझौते के तौर पर इस बालक का नाम फ़क्रीर मोहन रखा

गया और यह भी तय किया गया कि मुहर्रम के दौरान आठ दिनों तक बालक को दरगाह में फ़क्रीरी चोले में रहना होगा। नौ वर्ष की उम्र में फ़क्रीर मोहन गाँव के प्राथमिक विद्यालय में पढ़ने गये जहाँ उन्हें रिश्तेदारों को पत्र लिखने और अदालतों में दरखास्त लिखना सिखाया गया। उन दिनों ओडिया में बाइबिल के अलावा अन्य कोई मुद्रित पुस्तक उपलब्ध ही नहीं थी।

फ़क्रीर मोहन का बचपन अत्यंत गरीबी में बीता। उन्हें पढ़ाई छोड़ कर बालासोर में नौकाओं के पाल सिलने का काम करना पड़ा। जब यह व्यापार बंद हुआ तो फ़क्रीर मोहन नमक बनाने के काम में लग गये। कुछ ही दिनों में यह काम भी बंद हो गया। 1862 में फ़क्रीर मोहन पड़ोसी गाँव बाराबती के स्कूल में पढ़ने गये और वार्षिक परीक्षा में अक्ल आये। लेकिन उन्हें स्कूल छोड़ना पड़ा क्योंकि फ़ीस के रूप में चार आने दे पाना भी फ़क्रीर मोहन के लिए सम्भव नहीं था। एक विद्यार्थी के रूप में स्कूल छोड़ने के तुरंत बाद ही उन्हें

इसी स्कूल में ढाई रुपये प्रति माह पर एक शिक्षक के रूप में नियुक्त किया गया। भूगोल पढ़ाने के लिए फ़क्रीर मोहन ने अपने हाथ से नक्शे बनाये और बिना किसी सहयोग के स्वयं ही गणित सीखा। फ़क्रीर मोहन की बुद्धिमत्ता व परिश्रम को देखकर उन्हें बालासोर मिशन स्कूल में दस रुपये के मासिक वेतन पर प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया। मात्र तेरह वर्ष की आयु में फ़क्रीर मोहन का पहला विवाह लीलावती देवी से हो चुका था। उनकी मृत्यु के बाद 1871 में उन्होंने कृष्णा कुमारी देवी से विवाह किया। इस विवाह से फ़क्रीर मोहन बेहद सुखी व प्रसन्न थे लेकिन दुर्भाग्यवश इनकी दूसरी पत्नी का भी 1894 में निधन हो गया।

बालासोर मिशन स्कूल में प्रधानाध्यापक के तौर पर 1868 में फ़क्रीर मोहन ने अपने पाँच मित्रों के साथ मिल कर बालासोर में पी.एम. सेनापति ऐंड को. उत्कल प्रेस के नाम से एक छापाखाना खोला जहाँ से ओडिया भाषा में पाक्षिक पत्रिका *बोधदायनी* और *बालासोर संवाद बाहिका* का प्रकाशन शुरू हुआ। इसके एक भाग में साहित्यिक विमर्श व दूसरे भाग में समाचार होते थे। इससे पहले 1866 में कटक मुद्रण कम्पनी ने *उत्कल दीपिका* नामक साहित्यिक पत्रिका का प्रकाशन किया था। कुल मिला कर फ़क्रीर मोहन लम्बे समय तक इस पत्रिका का प्रकाशन नहीं कर पाये क्योंकि इस पत्रिका के लिए ज़रूरी संख्या में ग्राहक नहीं मिल सके। दूसरे, अपनी नौकरी के कारण वे प्रेस और पत्रिका को समुचित समय भी नहीं दे पाये। 1871 में फ़क्रीर मोहन को



फ़क्रीर मोहन सेनापति (1843-1918)

नीलगिरि की रियासत के दीवान के रूप में नियुक्त किया गया और इसके अगले 25 सालों तक वे विभिन्न स्थानों में प्रशासक के रूप में काम करते रहे।

1918 में फ़क्रौर मोहन ने अपनी जीवनी *आत्मजीवन चरित* की रचना की जिसका प्रकाशन उनके मरणोपरांत 1927 में हो पाया। ओडिया भाषा में लिखी गयी यह पहली आत्मकथा थी। यह केवल फ़क्रौर मोहन सेनापति का जीवन वृत्तांत नहीं बल्कि उस दौर के ओडीशा की ऐतिहासिक, सामाजिक व सांस्कृतिक स्थिति का तथ्यात्मक अध्ययन है। फ़क्रौर मोहन ओडीशा को अलग प्रांत बनाये जाने के हिमायती थे। खराब स्वास्थ्य के बावजूद भी उन्होंने 1917 में उत्कल सम्मेलन के वार्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता की जिसका उद्देश्य अलग ओडीशा प्रांत का निर्माण करना था। इसी वर्ष उन्होंने कटक में उत्कल साहित्य समाज के वार्षिक सम्मेलन की अध्यक्षता भी की यह सम्मलेन सभी ओडिया भाषी इलाकों के एकीकरण के लिए संघर्ष करने के लिए बुलाया गया था। लम्बी बीमारी के बाद 14 जून, 1918 को फ़क्रौर मोहन सेनापति का निधन हुआ। उनकी मृत्यु के समय उनके पास कोई क्ररीबी रिश्तेदार नहीं था।

**देखें :** कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, क्राजी नज़रुल इस्लाम, कुमार आशान्, गजानन माधव मुक्तिबोध, गोवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, प्रेमचंद, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय, भारतेन्दु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, वल्लतोल, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, सुब्रह्मण्यम भारती, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

## संदर्भ

1. जतीन्द्र क. नायक और प्रदीप्त दास (1997), *स्टोरी ऑफ़ माय लाइफ़* (फ़क्रौर मोहन सेनापति की ओडिया में रचित आत्मकथा का अंग्रेज़ी अनुवाद), सतीर्थ पब्लिकेशंस, भुवनेश्वर.
2. जे. के. समल और पी. के. नायक (1995), *मेकर्स ऑफ़ मॉडर्न ओडीशा*, अभिनव पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
3. गगनेंद्र नाथ दास (2006), 'फ़क्रौर मोहन सेनापति : डिस्कवरी फ्रॉम बिलो', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 41, अंक 46.

—रवि दत्त वाजपेयी

## फर्डिनैंद द सॅस्यूर

(Ferdinand de Saussure)

बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में अपने सूत्रीकरणों से चिंतन जगत को 'भाषायी मोड़' देने के लिए विख्यात स्विस भाषाशास्त्री फर्डिनैंद द सॅस्यूर (1857-1913) संरचनावाद के प्रवर्तक और आधुनिक भाषा-विज्ञान के जनक माने जाते हैं। सॅस्यूर मुख्यतः संस्कृत के विद्वान थे और उनके सूत्रीकरणों पर पाणिनि की रचना *अष्टाध्यायी* और भर्तृहरि की कृति *वाक्यपदीयम्* की गहरी छाप है। *वाक्यपदीयम्* में प्रवर्तित स्फोट सिद्धांत से प्रभावित सॅस्यूर के विचारों ने यथार्थ और भाषा के बीच संबंधों में बुनियादी परिवर्तन किया जिससे किसी स्थापित यथार्थ के आईने में भाषा को देखने के बजाय भाषा के आईने में यथार्थ को देखने का आग्रह रेखांकित हुआ। इस तरह भाषा सिर्फ यथार्थ को व्यक्त करने वाला उपकरण नहीं रह गयी, बल्कि यथार्थ की प्रकृति को तय करने वाली बन गयी। बीसवीं सदी से पहले भाषा को स्वरों एवं व्यंजनों के ऐसे व्याकरणिक संयोजन की व्यवस्था के रूप में समझा जाता था जिसमें संवादों के माध्यम से सम्प्रेषण एवं अक्षरों के संयोजन से लेखन सम्भव होता है। इस धारणा से हटते हुए सॅस्यूर ने अपने व्याख्यानों से स्थापित किया कि भाषा एक सामाजिक यथार्थ है। भाषा एक संरचना है जो समाज की सामूहिक अंतःक्रियाओं एवं अनुभवों से निर्मित होती है। सॅस्यूर ने भाषा को प्रारूपिक दृष्टि से यादृच्छिक माना है। भाषा की इसी यादृच्छिकता को उन्होंने समस्त भाषाओं की प्रकार्यात्मक समरूपता का आधार बताया। भाषा की यादृच्छिकता को सॅस्यूर ने विभिन्न आधारों पर दर्शाया जिनमें चार का उल्लेख विशेष रूप से किया जाता है। प्रथम, भाषा में जो अनुशासन/व्यवस्था है उसमें पूर्ण अपने अंश से बड़ा है। द्वितीय, अवधारणाएँ संकेतित (सिग्निफ़ाइड) एवं ध्वनि तथा प्रतीक संकेतक (सिग्निफ़ायर) होते हैं। तृतीय, भाषायी तत्त्वों का निर्धारण उनकी क्रियात्मकता से होता है न कि उनके आंतरिक गुण से और चतुर्थ, भाषा की प्रकृति सामाजिक होती है। इसी कारण से वह अर्थ के संधान एवं व्याख्या हेतु एक बृहद परिप्रेक्ष्य की अपेक्षा करती है। यादृच्छिक होने के कारण भाषा की अर्थवत्ता वैकल्पिक होती है।

सॅस्यूर का जन्म 26 नवम्बर, 1857 को स्वित्ज़रलैण्ड के जिनेवा में हुआ था। प्राकृतिक विज्ञान में दक्षता प्राप्त करने की अपने परिवारिक परम्परा से इतर सॅस्यूर की दिलचस्पी भाषा में थी। मात्र पंद्रह वर्ष की उम्र में ही उन्होंने भाषाओं की सामान्य व्यवस्था पर एक गम्भीर लेख लिख कर संसार की समस्त भाषाओं के मूल में आधारभूत व्यंजनों की व्याख्या का प्रयास किया था। पारिवारिक आग्रहों के कारण 1875 में



फ़र्दिनेंद द सॅस्यूर (1857-1913)

सॅस्यूर ने भौतिक एवं रसायनशास्त्र के अध्ययन के लिए जिनेवा विश्वविद्यालय में प्रवेश तो ले लिया लेकिन इस पढ़ाई में उनका मन नहीं लगा। इसलिए अपने परिवार की इजाजत ले कर एक साल बाद वे भारतीय भाषाओं के उच्च अध्ययन के लिए जर्मनी के लेपज़िग विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए चले गये जो उस ज़माने में भाषा-विज्ञान के अध्ययन के लिए विशेष रूप से जाना जाता था। इसी विश्वविद्यालय में सॅस्यूर ने स्नातक स्तर पर 'प्रिमिटिव वॉवेल सिस्टम इन इण्डोयुरोपियन लैंग्वेज' विषय पर लघु शोध प्रबंध लिखा। सॅस्यूर को 1880 में 'लोकेटिव एक्सल्यूट इन संस्कृत' पर डॉक्टर की उपाधि प्राप्त हुई। इन व्यवस्थित रचनाओं के अतिरिक्त सॅस्यूर ने अपने जीवनकाल में कुछ भी प्रकाशित नहीं किया। 1891 में जिनेवा विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर पद पर नियुक्ति के पहले सॅस्यूर ने फ़्रांस में भारतीय भाषाओं का अध्यापन किया। इसके बाद वे जिनेवा में भी भारतीय भाषाएँ पढ़ाते रहे। 1907 से सॅस्यूर ने सामान्य भाषा-विज्ञान के अध्यापन का जो कार्य प्रारम्भ किया वह 1913 में उनकी मृत्यु के दो वर्ष पूर्व तक जारी रहा। सॅस्यूर को जीवन-काल से अधिक लोकप्रियता और प्रसिद्धि मरणोपरांत मिली। 1916 में चार्ल्स बैली एवं सोचेहोये ने अपने गुरु सॅस्यूर द्वारा कक्षा में दिये गये व्याख्यानों को *कोर्स इन जनरल लिंग्विस्टिक* के रूप में प्रकाशित किया। यह पुस्तक सॅस्यूर की स्थायी प्रसिद्धि की वाहक साबित हुई। सॅस्यूर फ़्रांसीसी के अतिरिक्त लैटिन,

ग्रीक एवं संस्कृत के भी विद्वान थे।

सॅस्यूर ने संकेतित एवं सांकेतिक के प्रयोग एवं उदाहरणों से प्रदर्शित किया कि प्रत्येक भाषा में शब्दों के अर्थ वाक्य में प्रयुक्त अन्य शब्दों से संबंधन एवं विभेदन पर आधारित होते हैं। इस भाषायी विश्लेषण से परस्पर विपरीत द्विभाजन (बायनरी अपोजिशन) की अवधारणा का जन्म हुआ जिसने आगे चलकर अनेक विश्लेषणों एवं चिंतन धाराओं को जन्म दिया। सॅस्यूर ने सांकेतिक के मध्य भी यादृच्छिक संबंधों को दर्शाया। इसी आधार पर उन्होंने कहा कि जगत में स्थित वस्तु का उसके सूचक ध्वन्यार्थ से वास्तव में कोई संबंध नहीं होता है। यह संबंध सामूहिक साहचर्यों के सामान्य अनुभव और सहमति पर आधारित होता है। सॅस्यूर ने शब्दों के अर्थ की निश्चयात्मकता को भी नकारा है। वे कहते हैं कि शब्दों के अर्थ में निश्चयात्मकता का समावेश संस्कृति, इतिहास, सामाजिक दशाओं के प्रभाव आदि के कारण आता है।

सॅस्यूर ने भाषा-व्यवस्था (लांगे) एवं भाषा-व्यवहार (पारोल) की चर्चा की है। भाषा-व्यवस्था को वे भाषा के संगठनात्मक पक्ष से जोड़ते हैं जो भाषा के व्याकरणिक पक्ष से संबंधित है। भाषा-व्यवहार को वे व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त विशेष संदर्भों में भाषा के प्रयोग से जोड़ते हैं। उनका विशेष ध्यान भाषा-व्यवस्था के अध्ययन की ओर रहा है। सॅस्यूर ने भाषा के अर्थान्वयन के लिए जो आधार प्रस्तुत किया है उससे भाषा के उर्ध्वधर एवं क्षैतिज अर्थ प्रकट होते हैं। इसके अनुसार भाषाओं में अर्थान्वयन प्रतीकों का संबंधन एवं चयन वाक्य रचना संबंधी व्याकरणिय (सिनटैमेटिक अक्ष) और रूप निदर्शनात्मक (पैराडिगमैटिक अक्ष) के माध्यम से किया जाता है। इस विधि से वाक्यों की बनावट को देखने पर यह समझना आसान हो जाता है कि वाक्यों में शब्दों के अर्थ अन्य शब्दों के प्रयोग के सापेक्ष अर्थ का किस प्रकार उत्पादन करते हैं। दीर्घ स्वरों की उत्पत्ति के संदर्भ में सॅस्यूर द्वारा स्थापित मान्यताओं का भी आगे चलकर विद्वानों ने समर्थन किया। सॅस्यूर ने जब यह स्थापित किया कि दीर्घ स्वरों की उत्पत्ति में ह्रस्व स्वरों एवं सोनैन्ट कोफ़िशिएंट का समावेश है, तब उनकी इस बात को मानने के लिए कोई तैयार नहीं था।

सॅस्यूर का कार्यक्षेत्र ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान रहा है और वे इसके जनक भी माने जाते हैं। इस अर्थ में विवरणात्मक भाषा-विज्ञान (जिसके प्रमुख सिद्धांतकार ब्लूमफ़ील्ड माने जाते हैं) एवं भाव या परिणामवादी भाषा-विज्ञान (जिसके प्रमुख सिद्धांतकार नोआम चोमस्की हैं) पर सॅस्यूर का प्रभाव है, क्योंकि इन विचार सम्प्रदायों का जन्म भाषा के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बिना सम्भव न था। लेकिन सॅस्यूर के योगदान की यह कह कर आलोचना भी की जाती है कि भाषा-अध्ययन के लिए उन्होंने जिस कालक्रमिक एवं



ऐतिहासिक अध्ययन का प्रस्ताव किया है वह अलग-अलग पद्धतियों की अपेक्षा करता है जो उनके पास उपलब्ध नहीं हैं। यद्यपि सॅस्यूर द्वारा भाषा-व्यवस्था को लांगे एवं पारोल में विभक्त किया जाना भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए आधार स्तम्भ साबित हुआ किंतु भाषा को इस प्रकार से विभक्त करना और व्याकरणिक नियमों में भाषा-व्यवहार का प्रभाव खोजना एक तरह के अनवस्था दोष को जन्म देता है। सॅस्यूर की यह आलोचना भी की जाती है कि भाषाएँ भाव की भी संवाहक होती हैं किंतु सॅस्यूर ने भाव-सम्प्रेषण के पक्ष को अपने अध्ययन में समुचित स्थान नहीं दिया है।

ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से सॅस्यूर अनुभववादी हैं। वे भाषा पर जिन प्रभावों को रेखांकित करते हैं वे अनुभवजन्य हैं। इसी आधार पर चोमस्की जैसे भाववादी भाषा वैज्ञानिक सॅस्यूर की आलोचना करते हैं। चोमस्की मूलभूत व्याकरणिक नियमों को मानव-मस्तिष्क में निहित मानते हैं लेकिन अनुभववादी होने के कारण सॅस्यूर ने इस तथ्य की उपेक्षा की है। इसी कारण वे विभिन्न भाषाओं में सार्वभौमिक रूप से व्याप्त तत्त्वों को नहीं खोज पाते।

इन आलोचनाओं के बावजूद सॅस्यूर का प्रभाव कालजयी है। वे परस्पर विपरीत द्विभाजन को (बायनरी अपोजिशन) सामने लाने वाले प्रमुख विचारक हैं। इस अवधारणा का संस्कृति-अध्ययन में शक्ति संबंधों को समझने एवं व्याख्या करने में पथ-प्रदर्शक के रूप में उपयोग हो रहा है। भाषा को सांस्कृतिक एवं सामाजिक निर्मित बता कर सॅस्यूर ने भाषा की व्याख्या के एकार्थक पहलू के दोषों को दूर करने में अप्रतिम योगदान दिया है। उनके चिंतन ने मात्र भाषा-विज्ञान ही नहीं बल्कि लक्षण-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान और मानवशास्त्र को भी प्रभावित किया। सॅस्यूर के संरचनावाद का उत्तर-आधुनिकतावाद और नारीवाद जैसे चिंतन पर गहरा प्रभाव देखा जा सकता है।

देखें : अर्थ-विज्ञान, डायग्लॉसिया, नोआम चोमस्की, परस्पर विपरीत द्विभाजन, भाषा का मार्क्सवादी सिद्धांत, राष्ट्र-भाषा और राज-भाषा, लक्षण-विज्ञान, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, सम्पर्क-भाषा : हिंदी/अंग्रेजी-1 से 4 तक।

## संदर्भ

1. फ़र्दिनैंद द सॅस्यूर (2006), *राइटिंग इन जनरल लिंग्विस्टिक्स*, आक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. चैरिस बाकर (2000), *कल्चरल स्टडीज़, थियरी ऐंड प्रैक्टिस*, सेज, लंदन.
3. विनफ्रेड पी. लेहमैन (सम्पा.) (1968), *अ रीडर इन नाइंटीथ सेंचुरी हिस्टोरिकल इण्डो-युरोपियन लिंग्विस्टिक्स*, इण्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस, इण्डियाना.

— विश्वनाथ मिश्र और उपासना पाण्डेय

## फ़र्नैंद ब्राँदेल

(Fernand Braudel)

इतिहास-लेखन की अनाल परम्परा में फ़र्नैंद ब्राँदेल (1902-1985) को ल्यूसिआँ फ़ेब्र और मार्क ब्लॉक का उत्तराधिकारी माना जाता है। लेकिन अनाल की प्रस्थापनाओं को विश्व-स्तर पर प्रतिष्ठित करने का सबसे ज़्यादा श्रेय सम्भवतः ब्राँदेल को ही जाता है। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद उनके सभ्यता-विमर्श, *अनाल* जर्नल के सम्पादक के तौर पर उनकी सृजनशीलता और बौद्धिक नेतृत्व ने अनाल को इतिहास-लेखन का एक ऐसा संदर्भ बना दिया कि इतिहास लेखन के किसी भी विमर्श को उसका जिक्र करना अनिवार्य लगता था। इस तरह बीसवीं सदी के इतिहास-लेखन व चिंतन पर ब्राँदेल का व्यापक असर रहा है। ब्राँदेल के कृतित्व का ताल्लुक मुख्यतः तीन विषयों से रहा है: भूमध्यसागरीय क्षेत्र, सभ्यता और पूँजीवाद, तथा फ्रांस की अस्मिता। उनके अनुसंधान की खासियत यह थी कि वे अपने विषय पर दशकों तक चरणबद्ध ढंग से काम करते थे। मसलन, भूमध्यसागर के क्षेत्र पर ब्राँदेल ने लगभग छह, सभ्यता और पूँजीवाद के अंतःसंबंधों पर तीन तथा फ्रांसीसी समाज और इतिहास पर लगभग डेढ़ दशकों तक काम किया। इससे जाहिर होता है कि ब्राँदेल की रुचि किसी एक काल-खण्ड, घटना या शासन काल तक सीमित न होकर समाज और अर्थव्यवस्था की दीर्घावधि प्रक्रियाओं (लाँग ड्यूरी) में थी।

उनकी रचना *द मेडिटरेनियन ऐंड द मेडिटरेनियन वर्ल्ड इन द एज ऑफ़ फ़िलिप सेकंड* को ऐतिहासिक-चिंतन के क्षेत्र में ऐसी क्रांति की संज्ञा दी जाती है जो न केवल बीसवीं सदी के लिए नये मानक स्थापित करती है बल्कि यह भी दिखाती है कि इतिहास का वैश्विक विन्यास कैसा होना चाहिए। ब्राँदेल की यह रचना सिर्फ़ युरोप के अकादमिक जगत में ही नहीं बल्कि दुनिया भर के इतिहासकारों को नये स्रोतों और प्रस्थापनाओं का संधान करने के लिए प्रेरित करती रही है। इसे समाज-विज्ञानों के विभिन्न अनुशासनों की अंतर्दृष्टियों और शोध-पद्धतियों का विराट संश्लेषण माना जाता है।

गौरतलब है कि भूमध्यसागरीय क्षेत्र को युरोप में खेती, धर्म, अर्थव्यवस्था, संस्कृति का मानक माना जाता था। हालाँकि पंद्रहवीं और सोलहवीं सदी तक इस क्षेत्र का वर्चस्व क्षीण पड़ने लगा था परंतु युरोप की क्षेत्रीय संस्कृतियों में इस सभ्यता के अनेकानेक लक्षण रच-बस गये थे। ब्राँदेल की इतिहास-दृष्टि में भूमध्यसागर एक बहुलार्थी पद बनकर उभरता है। उनके अनुसार भूमध्यसागर जनसमुदायों के जीवन



फ्रैंद ब्राँदेल (1902-1985)

और कर्म का एक विशाल और जटिल विस्तार है। ब्राँदेल की दृष्टि में इस क्षेत्र को मैदानी और मरुस्थलीय क्षेत्रों से विच्छिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि ये सभी क्षेत्र आपस में मिलकर एकमुश्त संरचना का निर्माण करते हैं। ब्राँदेल का मत है कि इस मामले में कृत्रिम सीमाओं को महत्त्व देना वास्तविक स्थिति को झुठलाना होगा।

तीन खण्डों वाली इस रचना का पहला भाग समाज और भौतिक वातावरण के सहसंबंधों पर केंद्रित है। यहाँ इतिहास के निर्माण में भौतिक तत्वों की भूमिका पर विचार करते हुए ब्राँदेल कहते हैं कि इतिहास का यह चरण हमें अक्सर दिखायी ही नहीं देता क्योंकि इसमें बदलाव की गति बहुत धीमी और वर्तुलाकार होती है। परंतु समाज के सांभ्यतिक ढाँचे की रचना में यह चरण बहुत अहम भूमिका निभाता है। पुस्तक के दूसरे खण्ड में ब्राँदेल सामूहिक नियति और आम प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करते हुए विभिन्न सामाजिक संरचनाओं के अंतःसूत्रों के साथ आर्थिक तंत्रों, वैज्ञानिक-तकनीकी विकास, राजनीतिक संस्थाओं, अवधारणागत बदलावों तथा सभ्यताओं को प्रभावित करने वाली शक्तियों की चर्चा करते हैं। उदाहरण के लिए इस प्रसंग में ब्राँदेल यह दर्शाते हैं कि स्पेनी और तुर्क साम्राज्य के उदय में पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी के दौरान होने वाली आर्थिक वृद्धि की महती भूमिका थी। पुस्तक के तीसरे भाग में ब्राँदेल राजनीतिक घटनाओं और शासकों पर विचार करते हुए फ़िलिप द्वितीय, डॉन गार्सिया दी तोलेदो तथा डॉन जॉन जैसे चरित्रों और सोलहवीं सदी के युद्धों व संधि वार्ताओं का पूरे विस्तार से ब्योरा देते हैं।

लेकिन यहाँ भी वे इस बात को लेकर सजग हैं कि शासकों और घटनाओं का चित्रण कहीं भौगोलिक और सामाजिक इतिहास पर हावी न हो जाए। इसलिए ब्राँदेल लगातार यह भी बताते चलते हैं कि कई मामलों में बदलाव का वाहक बनने के बावजूद आम तौर पर ऐसे तमाम शासक

भौगोलिक और सामाजिक संरचनाओं का अतिक्रमण नहीं कर पाते थे। जाहिर है कि एक इतिहासकार के रूप में ब्राँदेल व्यक्तिगत उपलब्धियों, प्रवृत्तियों और कारनामों को उसी सीमा तक महत्त्व देते हैं जिस सीमा तक वे संरचनाओं के महत्त्व को उजागर करती हैं। वे इस बात को लेकर खासे चौकस नज़र आते हैं कि इस काल का कोई भी शासक या घटना पुस्तक की मूल परियोजना को न हथिया ले। ब्राँदेल किसी भी एकल विचार, वस्तु या प्रभाव को लेकर इतने सावधान हैं कि वे भूमध्यसागरीय क्षेत्र को भी एक मुकम्मल इकाई न मानकर उसे समुद्र, द्वीप, प्रायद्वीप और तटीय क्षेत्रों की जटिल संरचना बताने पर ज़ोर देते हैं।

ब्राँदेल की दूसरी प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण रचना *सिविलाइजेशन ऐंड कैपिटलिज़्म 1400-1800* मानी जाती है। पूर्वोक्त पुस्तक की तरह यह भी तीन खण्डों की बृहदाकार रचना है। पुस्तक के पहले भाग में ब्राँदेल लोगों के आर्थिक कार्यकलापों और रोज़मर्रा के सामाजिक जीवन की प्रवृत्तियों, फैशन, खान-पान की आदतों आदि का बेहद सघन ब्योरा पेश करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि प्राक्-औद्योगिक काल में युरोप की क्षेत्रीय अर्थव्यवस्थाएँ खाद्यान्न की कमी, संसाधनों के अनुपात में आबादी के असंतुलित विकास, श्रम की निम्न उत्पादकता तथा तकनीकी पिछड़ेपन आदि जैसी समस्याओं से ग्रस्त थीं। दूसरे भाग में ब्राँदेल नयी आर्थिक प्रवृत्तियों- बाज़ार, विनिमय, साझेदारी और क्रागज़ी मुद्रा के उदय का हवाला देते हैं। पुस्तक का तीसरा खण्ड पूँजीवाद के उत्थान पर केंद्रित है जिसमें ब्राँदेल पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास की तहक्रीकात करते हुए दिखाते हैं कि औद्योगिक क्रांति से पहले उसकी विकास-यात्रा किन-किन केंद्रों से होकर गुज़री थी। इस तरह जहाँ तेरहवीं से पंद्रहवीं सदी के बीच वेनिस और जिनेवा आर्थिक गतिविधियों के शीर्ष पर रहे तो सोलहवीं सदी में एंटवर्प वाणिज्य और व्यापार का केंद्र बन गया। बाद में सोलहवीं से लेकर अट्ठारहवीं सदी के बीच इन गतिविधियों का रुख एम्सटर्डम की ओर मुड़ गया तो अट्ठारहवीं सदी के बाद ऐसी तमाम गतिविधियों लंदन से संचालित होने लगी।

विद्वानों के अनुसार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की पड़ताल में ब्राँदेल यह मौलिक प्रस्तावना रखते हैं कि वह एक वैश्विक परिघटना है इसलिए उसकी कोई भी व्याख्या वैश्विक संदर्भों में ही की जानी चाहिए। उनकी यह निष्पत्ति भी उल्लेखनीय मानी जाती है कि औद्योगिक क्रांति के दौरान यांत्रिक और तकनीकी विकास इसलिए सम्भव हुआ था क्योंकि एशिया, अफ्रीका और अमेरिका की बनिस्वत युरोप में श्रम-शक्ति सीमित थी। पूँजीवाद की व्याख्या में ब्राँदेल ने यह भी चिह्नित किया था कि आम धारणा के विपरीत पूँजीपति बाज़ार की खुली प्रतिस्पर्धा में उतरने के बजाय

हमेशा एकाधिकारवाद का सहारा लेते हैं। उनके अनुसार अध्ययन के इस समूचे कालखण्ड में पूँजीपतियों की रुचि मुक्त बाजार में नहीं रही। यहाँ यह नोट करना महत्त्वपूर्ण है कि पूँजीवाद की आलोचना में ब्राँदेल ऐडम स्मिथ के उदारतावाद और मार्क्सवाद दोनों से अलग रवैया अखिल्यार करते हैं। उनका मानना है कि आधुनिक इतिहास में पूँजीवाद के अंतर्गत राज्य ने आम तौर पर प्रतिस्पर्द्धा की रक्षा करने के बजाय एकाधिकारवादी तत्त्वों को संरक्षण दिया है।

ब्राँदेल को इतिहास लेखन का पारम्परिक ढाँचा नाकाफ़ी लगता था। उनके मुताबिक़ ऐसा इतिहास रोशनी की एक क्षीण सी लक़ीर की तरह था जिससे नेपथ्य उद्घाटित नहीं होता था। उसमें तथ्यों की तो भरमार थी लेकिन बृहत्तर संरचनाओं का सुराग नहीं मिलता था। इस विसंगति के लिए ब्राँदेल इतिहासकारों की कुछ खास घटनाओं को ज़्यादा महत्त्व देने, व्यक्तिगत कार्यों और उपलब्धियों पर जोर देने तथा इतिहास की प्रक्रियाओं को छोटे-छोटे काल-खण्डों में समेटने की प्रवृत्ति को ज़िम्मेदार मानते थे। उनका मानना था कि इतिहास को कुछ निश्चित काल-खण्डों में बाँटने की यह प्रवृत्ति उसे राजनीतिक घटनाओं का पिटारा बना देती है। उनका यक़ीन था कि अगर इतिहासकार दुनिया को बेहतर ढंग से समझना चाहते हैं तो उन्हें घटनाओं को तात्कालिकता या एक निश्चित काल-खण्ड के साँचे में रखकर देखने की परिपाटी से मुक्त होना पड़ेगा। ब्राँदेल की दृष्टि में आम तौर पर इतिहासकार इन छोटे छोटे काल-खण्डों को इतिहास का केंद्र मान लेते हैं जबकि हक़ीक़त में इतिहास का कोई केंद्र ही नहीं होता। वह प्रक्रियाओं के अंतर्संबंधों में फलता है और यही उसका मर्म होता है। ब्राँदेल कहते हैं कि वास्तविक जीवन में व्यक्ति के तमाम कार्यकलाप एक ज़्यादा बड़े और जटिल यथार्थ में धँसे होते हैं। अलग-अलग प्रक्रियाओं के बहुविध मेल से बनी ये संरचनाएँ इतनी व्यापक होती हैं कि उनके नियामक तत्त्वों को पूरी स्पष्टता से समझना मुश्किल होता है।

ब्राँदेल कहते हैं कि इतिहास की प्रक्रिया में इन संरचनाओं को समझने के लिए इतिहासकार को अपनी दृष्टि को समय के तात्कालिक और निश्चित साँचों के परे ले जाना होता है। व्यावहारिक स्तर पर इसका मतलब यह है कि इतिहासकार को न केवल सांस्कृतिक, भौगोलिक, आर्थिक व राजनीतिक क्रियाओं-गतिविधियों के सह-संबंधों पर विचार करना चाहिए बल्कि समय की दीर्घ और अल्प अवधियों के आर-पार देखने में भी सक्षम होना चाहिए। ब्राँदेल के अनुसार दृष्टि का कोण या पटल बदलते ही यह साफ़ हो जाता है कि समय कोई एकसार और इकहरी परिघटना नहीं है। उसकी गति हमेशा एक सी नहीं रहती। कभी वह तेज़ी से बीतता है तो कभी बहुत धीमे। लिहाज़ा पारम्परिक इतिहास या घटनाओं

की लय से उसका प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। ब्राँदेल समय की इन विविध गतियों के बीच अपेक्षाकृत दीर्घ और स्थिर खण्डों को भौगोलिक, सामाजिक तथा व्यक्तिनिष्ठ समूहों में बाँटने का प्रस्ताव रखते हैं।

ब्राँदेल की इतिहास-दृष्टि ऐतिहासिक साक्ष्यों को समय के विशाल फलक पर रखने के साथ शोध पद्धतियों व समाज-विज्ञानों में शोध के विभिन्न रूपों के प्रति खुलेपन का आग्रह भी करती है। लेकिन उन्हें इस बात का अफ़सोस था कि इतिहास और समाज-विज्ञानों ने एक दूसरे के विरुद्ध दीवारें खड़ी कर ली हैं, जिसके कारण अतीत और वर्तमान को समझने की सम्भावनाएँ क्षीण हो गयी हैं।

अगर ब्राँदेल का समग्र मूल्यांकन किया जाए तो उन्हें इतिहास-लेखन के क्षेत्र में अनाल धारा का सबसे प्रखर वारिस माना जाता है। निस्संदेह मार्क ब्लॉक और ल्यूसियाँ फ़ेब्र की तरह उन्होंने ऐतिहासिक शोध को राजनीतिक घटनाओं के वर्चस्व से मुक्त किया लेकिन समय की बहुलतावादी दृष्टि उन्हें अनाल के स्वीकृत दायरे से बाहर ले जाती है। उनके विश्लेषण में व्यक्ति संरचनाओं के उद्घाटन में केवल एक निमित्त की तरह मौजूद रहता है। व्यक्ति को इतिहास की प्रक्रियाओं में हाशिये पर रखने की यह प्रवृत्ति अनाल या किसी भी अन्य धारा के इतिहासकार में नहीं पायी जाती। इसलिए इतिहास के कई विद्वानों का मानना है कि ब्राँदेल इतिहास के जिस ढाँचे की तजवीज़ करते हैं उसमें मनुष्य की उपस्थिति कहीं नहीं दिखायी देती।

देखें : अनाल स्कूल, अरनॉल्ड जोसेफ़ टॉयनबी, ओसवाल्ड स्पेंगलर, ल्यूसियाँ फ़ेब्र, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क ब्लॉक, इतिहास और आख्यान।

### संदर्भ

1. पीटर बर्क (1990), *द फ्रेंच हिस्टोरिकल रेवोल्यूशन : द अनाल स्कूल 1929-89*, पॉलिटी, केम्ब्रिज.
2. इमैनुएल वालस्टाइन (1991), 'ब्राँदेल ऑन कैपिटलिज़्म, ऑर एवरीथिंग अपसाइड डाउन', *जर्नल ऑफ़ मॉडर्न हिस्ट्री*, खण्ड 63, अंक 2.
3. एस. किन्सर (1981), 'अनालिस्ट पैरडाइम? द जियोहिस्टोरिकल स्ट्रक्चरलिज़्म ऑफ़ फ्रैंक ब्राँदेल', *अमेरिकन हिस्टोरिकल रिव्यू*, खण्ड 86, अंक 1.

— नरेश गोस्वामी

## फ़लसिफ़ा और क़लाम

(Falsifa and Kalam)

इस्लामिक दायरे में दर्शन के अध्ययन की शुरुआत यूनानी दर्शन के अधिकतर अरबी और कुछ-कुछ फ़ारसी अनुवादों से हुई। आठवीं सदी से शुरू और अंदलूसिया से भारत तक पहुँची इसी परम्परा को फ़लसिफ़ा का नाम दिया गया है। यह परम्परा विशुद्ध रूप से धार्मिक नहीं थी, और न ही इस्लामिक धर्मशास्त्र की सेवा करने के लिए इसकी शुरुआत हुई थी। फ़लसिफ़ा के साथ जुड़े हुए कुछ दार्शनिक ईसाई और यहूदी भी थे, और इसमें भाग लेने वाले मुसलमान दार्शनिकों की भी सांस्कृतिक, सामाजिक और भाषायी पृष्ठभूमि में अंतर था। कुल मिला कर इस दर्शन का चरित्र सामासिक था। इस्लाम में दर्शन की दूसरी प्रमुख परम्परा क़लाम की है। इसकी शुरुआत भी आठवीं सदी में हुई। अगर फ़लसिफ़ा का मक़सद इस्लामिक विश्वासों को यूनानी दर्शन द्वारा प्रदत्त कसौटियों पर कस कर देखना था, तो क़लाम का उद्देश्य तर्कशास्त्र के ज़रिये इस्लामिक प्रक्रियाओं की परख करते हुए उन्हें न्यायोचित ठहराना था। इस्लामिक दर्शन की इन दोनों परम्पराओं में कई समानताएँ थीं। इन दोनों का विकास भी 813 से 833 के बीच हुकूमत करने वाले अबासिद ख़लीफ़ा अल-मामुन के संरक्षण में हुआ। ख़लीफ़ा ने बग़दाद में एक अकादमी स्थापित की जिसे बाइत-अल-हिक़मा (हाउस ऑफ़ विज़डम) के नाम से जाना जाता है। उन्होंने धर्म और विज्ञान के क्षेत्र में यूनानी दर्शन और हिक़मत को लाने की आज्ञा दी, और क़लाम से जुड़े हुए मुताज़िलाह स्कूल को सरकारी दर्जा दिया।

बग़दाद की अकादमी अपनी वैचारिक सहिष्णुता और वैज्ञानिक खोजों को प्राथमिकता देने के लिए जानी जाती थी। ख़िलाफ़त में शामिल विभिन्न राज्यों के विद्वान सरकारी मदद और संरक्षण में चलने वाले ज्ञान के केंद्रों में जाकर अध्ययन-मनन करते थे ताकि साम्राज्य की निरंतरता की गारंटी करने वाली एक विश्व-दृष्टि की रचना की जा सके। उन दिनों ज्ञान और विद्वत्ता के क्षेत्र में ख़लीफ़ा के प्राधिकार को चुनौती देने वाले कई दार्शनिक और राजनीतिक प्रश्न उठाये जा रहे थे। ख़ुदायी इलहाम के ज़रिये प्राप्त इस्लाम के सिद्धांतों को भी भौतिकवादी, यहूदी, ईसाई और भारतीय प्रस्थानबिंदुओं से चुनौतियाँ दी जा रही थीं। इब्न रश्द, इब्न सिना और अल-फ़राबी और अल-किंदी जैसे विद्वानों ने यूनानी दर्शन की मदद से इन प्रश्नों की गहन समीक्षा की और इस्लामिक धर्मशास्त्र की दार्शनिक व्याख्याएँ पेश कीं। यूनानी दर्शन की रचनाओं के अरबी अनुवाद पर आधारित इस दार्शनिक आंदोलन के शीर्ष पर इराक़ी विद्वान अल-किंदी थे। किंदी ने

यूनानी दर्शन की रचनाओं के अनुवाद की ज़बरदस्त मुहिम चलायी और क़लाम द्वारा स्थापित आग्रहों से अलग हट कर दार्शनिक जाँच-पड़ताल की विधियाँ स्थापित कीं।

क़लाम की स्थापना की श्रेय वसील इब्न अता (700-748) को दिया जाता है। चूँकि इस अवधि में इस्लाम का प्रसार पागान परम्परा के इलाकों से आगे निकल कर ऐसे क्षेत्रों में हो रहा था जहाँ दार्शनिक और धर्मशास्त्रीय चिंतन की पहले से जमी हुई गहन परम्पराएँ थीं, इसलिए अता और बाद में उनके अनुयायियों को लगा कि इस्लाम पर आधारित नयी न्यायिक प्रणाली को विजितों के गले उतारने के लिए इस्लाम को मज़बूत दार्शनिक आधार पर खड़ा करना ज़रूरी है। इस प्रक्रिया में क़लाम के दो विचार-पंथ विकसित हुए। इनमें से एक अशारी स्कूल कहा जाता है, और दूसरा मुताज़िलाह स्कूल जिसे सरकारी संरक्षण मिला।

दोनों दार्शनिक परम्पराओं, क़लाम और फ़लसिफ़ा का जोर इस बात पर था कि मनुष्य को ईश्वर का अर्थ-ग्रहण करने के लिए महज़ आस्था और विश्वास पर भरोसा न करके अपनी बुद्धि और प्रज्ञा का इस्तेमाल करना चाहिए। दोनों मान कर चलती हैं कि मनुष्य के अधिकारों पर ईश्वर के अधिकार को श्रेष्ठता दी जानी चाहिए, और इसी के अनुसार मनुष्य को इस जगत में ईश्वर द्वारा निर्धारित विस्तृत व्यवस्था में अपना स्थान स्वीकारना चाहिए। दो ही दर्शन एक सदाचारपूर्ण नागरिक जीवन के समर्थक हैं। दार्शनिकों ने जिस शहर की संकल्पना की है और दैवी विधि के ज़रिये जो शहर रचा जाना चाहिए, उनके बीच समानता यही है कि उनकी मुख्य भूमि न्याय और सदाचार है। इस तरह दोनों दर्शन एक ऐसे नेता की आवश्यकता पर पहुँचते हैं जिसका काम दैवी विधि के मुताबिक हूकूमत करना होगा। इसके लिए वे किसी ऐसे दार्शनिक, ख़लीफ़ा या सुल्तान की सिफ़ारिश करते हैं जो अल्लाह से डरता हो, नैतिक नियमों से बँधा हो, न्यायप्रिय और ईमानदार हो, शक्तिशाली हो और अपनी प्रजा की खुशहाली के लिए प्रतिबद्ध हो।

इसी मुकाम पर फ़लसिफ़ा और क़लाम परम्परा के बीच अंतर समझना ज़रूरी है। यूनानी दर्शन का अनुवाद करने की प्रक्रिया में अरब दार्शनिकों ने कई पदों को अपनी इस्लामिक अवधारणाओं के मुताबिक बदल दिया। मसलन, अरस्तू ने जिसे 'फ़र्स्ट मूवर' या 'अनमूव्ड मूवर' कहा था, उसे अरबी के अनुवाद में 'अल्लाह' कहा गया। लेकिन इस शाब्दिक परिवर्तन के बावजूद 'मूवर' की प्रकृति से संबंधिक समझ में अंतर नहीं पड़ा। इब्न रश्द का विचार था कि अरस्तू के मुताबिक 'अनमूव्ड मूवर' स्वयं ही पदार्थ या द्रव्य का हिस्सा है, और उसका प्रभाव कार्य-कारण संबंधों की शृंखला के तौर पर देखा जा सकता है। फ़लसिफ़ा परम्परा द्वारा की गयी यह व्याख्या मुताज़िलाह स्कूल के अनुयायियों की समझ

से अलग है। क़लाम से संबंधित चिंतकों का विचार था कि अल्लाह ने सभी तरह के द्रव्य की रचना की है और वह खुद द्रव्य के बाहर है। वह अपनी सृष्टि से भिन्न रह कर उस पर असर डालते हुए इस जगत को नियंत्रित करता है। वह प्राकृतिक क़ानून बनाता है, और जब चाहता है अपने चमत्कारों के जरिये उन्हें बदल डालता है। दिलचस्प बात यह है अल्लाह से संबंधित मतभेद केवल फ़लसिफ़ा और क़लाम के अनुयायियों के बीच ही नहीं थे, फ़लसिफ़ा से जुड़े दार्शनिकों के बीच भी समझ का अंतर था। मसलन, इब्न रश्द के विचार के विपरीत उनके एक सहयोगी मैमोनाइद्स की मान्यता थी कि ईश्वर को केवल नकारात्मक रूप से ही जाना जा सकता है यानी उसे जाना ही नहीं जा सकता इसलिए ऐसी कोशिश करना भी फ़िज़ूल है। क़ुरान में अल्लाह का वर्णन न्यायपूर्ण और दयावान के रूप में अवश्य किया गया है, लेकिन इन ख़ूबियों के बारे में हमारे जो विचार हैं उनके मुताबिक़ अल्लाह को नहीं समझा जा सकता। मैमोनाइद्स की उलझन यह थी कि अगर अल्लाह ही किसी व्यक्ति द्वारा किये जाने वाले अच्छे और बुरे कामों को पूर्व-निर्धारित करता है तो फिर वही इस दुनिया और उस दुनिया में बुरा काम करने वाले व्यक्ति को दण्डित क्यों करता है? इस लिहाज़ से ईश्वर को न्यायप्रद कैसे माना जा सकता है?

आधुनिक विचार और राजनीति पर क़लाम और फ़लसिफ़ा की छाप के उदाहरण भी मिलते हैं। समझा जाता है कि बीसवीं सदी के प्रमुख विद्वान, मानवशास्त्री और राजनीतिक दार्शनिक लियो स्ट्रॉस ने इमैनुएल कांट की स्थापनाओं और उनके आधार पर स्थापित अमेरिकी लोकतांत्रिक निज़ाम की आलोचना करने के लिए फ़लसिफ़ा और क़लाम से प्राप्त सूत्रों का इस्तेमाल किया है। स्ट्रॉस खुद भी कांटियन दर्शन में प्रशिक्षित थे, लेकिन उन्होंने साठ के दशक के अमेरिका में सामाजिक-राजनीतिक स्थायित्व के लिए जो तजवीज़ें कीं वे मुसलमान और यहूदी दर्शन से प्रभावित थीं। उन्होंने कहा कि कांट ने परम्परा के ऊपर बुद्धिवाद को प्राथमिकता दे कर दर्शन को सांस्कृतिक, धार्मिक और रहस्यवादी आभा से वंचित कर दिया। नतीजा यह निकला कि द्वितीय विश्व-युद्ध बाद केवल बुद्धिवाद, व्यक्तिवाद और सापेक्षतावाद के आधार पर विकसित हुआ अमेरिकी समाज अपनी समस्याओं को सुलझाने में नाकाम हो गया। लियो स्ट्रॉस का इशारा था कि अमेरिकी राष्ट्रपति लिंडन जानसन गरीबी और नस्ली भेदभाव का उन्मूलन करके 'ग्रेट सोसाइटी' की स्थापना करना चाहते हैं, लेकिन हो उल्टा रहा है। अमेरिकी समाज नस्ली दंगों और अराजकता के गर्त में गिरता जा रहा है। इसलिए ज़रूरी यह है कि पुराने इस्लामिक और यहूदी धार्मिक दर्शन को अमेरिकी आवश्यकताओं के हिसाब से अनुकूलित करके अपनाया जाना चाहिए। स्ट्रॉस ने क़लाम और फ़लसिफ़ा की शिक्षाओं को जोड़ते हुए एक

नव-अनुदारतावादी राजनीतिक दर्शन की प्रस्तावना की जो ज्ञानोदय-पूर्व धारणाओं में रची-बसी थी। इसके अनुसार समाज को एक मिथकीय नेता, एक मुश्तरका लक्ष्य और एक मुश्तरका दुश्मन की आवश्यकता है। इनसे लैस हो कर अमेरिका सारी दुनिया को अपनी अच्छाइयों का पाठ पढ़ा सकता है। इस्लाम में अगर मिथकीय नेता का स्थान ख़लीफ़ा के पास था, तो अमेरिका में वह स्थान राष्ट्रपति को मिल सकता है। इस्लाम का मुख्य लक्ष्य एकेश्वरवाद और मुख्य शत्रु पागानवाद था तो बीसवीं सदी के संदर्भ में इनका स्थान क्रमशः लोकतंत्र और साम्यवाद को दिया जा सकता है।

क़लाम और फ़लसिफ़ा की दार्शनिक परम्परा बारहवीं सदी तक बेरोकटोक विकसित होती रही। लेकिन इसके बाद इसमें विघ्न आया क्योंकि ख़िलाफ़त की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और फ़ौजी ताक़त में गिरावट आने लगी। विशाल इस्लामिक साम्राज्य क्षेत्रीय राजवंशों में टूटने लगा। इसी के साथ हाउस ऑफ़ विज़डम के बेहतरीन दिन भी ख़त्म हो गये। परिणाम यह निकला कि क़लाम ने धीरे-धीरे फ़लसिफ़ा पर श्रेष्ठता हासिल कर ली। यह विकास-क्रम उस समय अपने चरम पर पहुँचा जब क़लाम के अशारी स्कूल के विद्वान अल-ग़ज़ाली ने *द इनकोहरेंस ऑफ़ फ़िलॉसफ़र्स* लिख कर फ़लसिफ़ा की वैधता पर ज़बरदस्त आक्रमण किया। ग़ज़ाली के तर्कों का जवाब इब्न रश्द द्वारा *द इनकोहरेंस ऑफ़ द इनकोहरेंस* लिख कर ज़रूर दिया गया, पर अल-ग़ज़ाली के बाद फ़लसिफ़ा के प्रभाव को टिकाना मुश्किल हो गया।

**देखें :** अबू-अला मौदूदी, अल-किंदी, अल-ग़ज़ाली, इब्न ख़ालदून, प्रारम्भिक इस्लाम, इस्लामिक नारीवाद, जिहाद, भारतीय इस्लाम, मसजिद, हज़रत मुहम्मद-1 और 2, मुहम्मद अली जिन्ना, मुहम्मद इक़बाल, सैयद अहमद ख़ाँ।

### संदर्भ

1. रिचर्ड ई. रूबेस्टीन (2004), *अरिस्टोटिल्स चिल्ड्रेंस : हाउ क्रिश्चियन, मुसलमान, ऐंड ज्यूज़ रिडिस्कवर्ड एंशिपेंट विज़डम ऐंड इल्युमिनेटिड डार्क एजिज़*, फ़्लोरिडा.
2. ओलिवर लीमैन (1985), *ऐन इंट्रोडक्शन ऑफ़ मिडीवल इस्लामिक फ़िलॉसफ़ी*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. ओलिवर लीमैन और एच.एस. नस्र (सम्पा.) (1998), *द रॉटलेज हिस्ट्री ऑफ़ इस्लामिक फ़िलॉसफ़ी*, रॉटलेज, लंदन.
4. मोहसिन मेहदी (1962), *अल-फ़राबीज़ फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ प्लेटो ऐंड अरिस्टोटिल*, इल, ग्लेंको.

—अभय कुमार दुबे

## फ़ासीवाद

(Fascism)

फ़ासीवाद बीसवीं सदी में ही पैदा हो कर शिखर पर पहुँचा और शताब्दी के अवसान से काफी पहले ही प्रभावहीन हो गया। राष्ट्रवाद के प्रजातीय संस्करण, वर्ग-संघर्ष विरोधी समाजवाद और प्रभुवर्गीय सर्वसत्तावाद के गठजोड़ की पैरोकारी करने वाला यह विचार लोकतंत्र को मूर्खतापूर्ण, भ्रष्ट और मंदगति से चलने वाली व्यवस्था मानता है। मार्क्सवाद और उदारतावाद उसकी निगाह में युद्ध और फूट के एजेंट हैं। फ़ासीवाद युरोपीय ज्ञानोदय और फ़्रांसीसी क्रांति से निकली राजनीतिक संस्कृति को पतनशीलता के ख़ाने में डालते हुए एक नयी सभ्यता की बुनियाद डालने के दावे के साथ उभरा था। वह इस नयी सभ्यता को सामुदायिकता का समर्थक, व्यक्तिवाद विरोधी, समाज के सभी वर्गों को मानवीय सामूहिकता के सूत्र में बाँधने वाला, एक समरस और सावयवी राष्ट्र की रचना का आधार बनाना चाहता था। इस विचार के आधार पर बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में फ़ासीवादी राज्य ने नस्ली शुद्धता उपलब्ध करने के लिए जाति-संहार की परियोजना चलायी और सैन्यवाद का झण्डा बुलंद किया। फ़ासीवादी परियोजना मुख्यतः उसकी दो राजनीतिक अभिव्यक्तियों के लिए जानी जाती है : इटली में मुसोलिनी का फ़ासीवादी आंदोलन और जर्मनी में हिटलर का नाज़ीवाद। ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ द्वितीय विश्व-युद्ध की भीषण त्रासदी की ज़िम्मेदार मानी जाती हैं। पश्चिमी आधुनिकता की समस्याओं को उदारतावाद और मार्क्सवाद के दायरे से बाहर हल करने की महत्वाकांक्षा रखने वाले फ़ासीवाद का सितारा बहुत तेज़ी से उभरा। पर युद्ध में हुई ऐतिहासिक पराजय ने उसे और भी ज़्यादा तेज़ी से धूमिल कर दिया।

अपने विश्वव्यापी प्रभाव के बावजूद इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि विचारधारा, राजनीतिक आंदोलन और एक ख़ास क्रिस्म के राज्य के तौर पर फ़ासीवाद मुख्यतः एक युरोपीय परिघटना है। बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों में इटली के मज़दूर आंदोलन पर 'सर्वहारा राष्ट्रवाद' की पैरोकारी करने वाले क्रांतिकारी सिंडिकलिज़्म का काफी असर था। 1910-12 के बीच मुसोलिनी के नेशनलिस्ट सिंडिकलिज़्म और इस क्रांतिकारी सिंडिकलिज़्म ने मिल कर तिजारती सभ्यता की जगह संतों और योद्धाओं को सिर-माथे बैठाने वाली एक युद्धप्रिय, मर्दाना और वीरोचित सभ्यता रचने का आह्वान किया ताकि पूँजीवादी भोगवाद और ख़ुदगर्जी को ख़त्म किया जा सके। इन लोगों को यह कहने में कोई संकोच नहीं था कि यह सभ्यता केवल नेतृत्वकारी क्षमताओं और योग्यताओं से लैस एक छोटा सा

प्रभु वर्ग ही क्रायम कर सकता है। जनता को तो सिर्फ़ इस प्रभु वर्ग के पीछे चलने की भूमिका ही अदा करनी थी। प्रथम विश्व-युद्ध के ठीक पहले इस विचार की अगुआई में दोनों तरह के सिंडिकलिज़्मों द्वारा मिल कर इटली में एक उग्र हस्तक्षेपकारी आंदोलन छेड़ा गया।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था, समाज और मज़दूर वर्ग की ज़िदगी में इन्हीं दिनों कुछ ऐसे परिवर्तन हो रहे थे जिनसे मार्क्स की भविष्यवाणियाँ प्रश्नांकित हो रही थीं। सर्वहारा राष्ट्रवाद का सूत्रीकरण करने वाला क्रांतिकारी सिंडिकलिज़्म मार्क्सवाद में संशोधन करने की कोशिशों का एक रूप था। इस संशोधनवादी परियोजना में वैचारिक योगदान करते हुए जॉर्ज सोरेल ने बुद्धिवाद और भौतिकवाद विरोधी समाजवाद की तजवीज़ की। सोरेल को हिंसा के प्रश्न पर व्यवस्थित दार्शनिक विचार करने वाले चिंतक के रूप में जाना जाता है। उनकी मान्यता थी कि जनता को सक्रिय और गोलबंद करने के लिए किसी तर्कपरक कार्यक्रम की नहीं बल्कि मिथकों और छवियों के इस्तेमाल की ज़रूरत होती है। चूँकि पूँजीवादी समाजों का सर्वहारा आम हड़ताल और क्रांतिकारी हिंसा का इस्तेमाल करने की योजना पर अमल करने में अक्षम साबित हो रहा था, इसलिए सोरेल के अनुयायियों ने मार्क्सवाद को पूरी तरह से छोड़ कर मज़दूरों की जगह राष्ट्रवाद की तेज़ी से उदित हो रही ज़बरदस्त ताक़त का आसरा लिया। उन्होंने वर्ग-संघर्ष की जगह राष्ट्रीय, नैतिक और मनोवैज्ञानिक क्रांति का सूत्रीकरण किया।

प्रथम विश्व-युद्ध ने वादियों के सामने साफ़ कर दिया कि राष्ट्रवाद में जनता को अपनी ओर खींचने की बेमिसाल ताक़त है। आधुनिक राज्य और आर्थिक नियोजन के साथ जुड़ कर राष्ट्रवाद उदारतावाद और मार्क्सवाद का व्यावहारिक विकल्प पेश कर सकता है। विश्व-युद्ध ने यह भी स्पष्ट किया कि आम लोगों को अंतर्राष्ट्रवाद में ज़रा भी दिलचस्पी नहीं होती और वे करिश्माई नेतृत्व के नैतिक आह्वान से उत्प्रेरित हो कर अपने राज्य की हिफ़ाज़त के लिए बड़े से बड़ा त्याग करने के लिए तैयार हो सकते हैं। वादियों को लगा कि जनता बुनियादी तौर पर आज्ञापालक क्रिस्म की होती है और उसे प्रोपेगंडा के ज़रिये फुसलाया जा सकता है। इसलिए लोकतांत्रिक स्वतंत्रताओं को मुलतवी करके तानाशाहीनुमा हुकूमत क्रायम करने पर उसे कोई आपत्ति नहीं होगी।

फ़ासिज़्म इतालवी भाषा के शब्द 'फ़ैसियों' की देन है जिसका मतलब होता है लकड़ी का गट्टा। प्राचीन रोम का राज-चिह्न लकड़ी का गट्टा (राष्ट्र की एकताकारी शक्ति) और कुल्हाड़ी (राजकीय शक्ति) थी। मुसोलिनी ने मार्च, 1919 में फ़ैसियों नाम से एक क्लब की स्थापना की जिसका मक्रसद वर्ग-संघर्ष आधारित समाजवाद का विरोध और राष्ट्रीय समाजवाद के लिए काम करना था। इस क्लब के



एडोल्फ हिटलर (1889-1945)

सदस्य फ्रासिस्ट कहलाये और उनका विचार फ्रासिज़म। एक राजनीतिक पार्टी बनी जिसके स्वयंसेवकों का संगठन काली शर्ट पहनता, फ़ौजी क्रवायद करता और अपने सेनापति मुसोलिनी को सेल्यूट मारना। फ्रासिज़म का तेज़ी से प्रसार हुआ और दो साल के भीतर पूरे इटली में दो हज़ार से ज़्यादा फ़ैसियों स्थापित हो चुके थे। 1923 तक उसकी सदस्य संख्या 23 लाख तक पहुँच गयी। बीस और तीस के दशक तक फ्रांस, स्पेन, बेल्जियम, हंगरी, क्रोशिया और रूमानिया में इतालवी फ्रासीवाद से मिलते-जुलते आंदोलन उभरने लगे थे। फ्रासिस्ट पार्टियाँ मोहभंग का शिकार हो चुके उदारतावादियों, मार्क्सवादियों, मज़दूरों, किसानों और कुलीन वर्गों के नुमाइंदों को अपनी ओर खींचने में लगी हुई थीं। लेकिन फ्रासीवादी राज्य का सपना व्यावहारिक रूप से केवल इटली और जर्मनी में ही साकार हुआ।

शुरू में मुसोलिनी और उसकी पार्टी को राजशाही के साथ सत्ता में साझेदारी करनी पड़ी। लेकिन 1924 के चुनाव में उसे पूरा बहुमत मिल गया। इतालवी संसद के एक प्रमुख समाजवादी सदस्य की हत्या के कारण उपजे विवाद का फ़ायदा उठा कर मुसोलिनी ने 1926 में ग्रांड कौंसिल बना कर सत्ता के शिखर पर क़ब्ज़ा कर लिया। सत्ता और समाज का अपेक्षाकृत निचली पायदानों का फ्रासिस्टीकरण करने के लिए मुसोलिनी ने अन्य सभी तरह की ट्रेड यूनियनों और हड़तालों पर प्रतिबंध लगा कर फ्रासिस्ट ट्रेड यूनियनों के तहत मज़दूर वर्ग को संगठित करने का अभियान चलाया। युवक संगठनों में गोलबंद करके नौजवानों का बड़े पैमाने पर फ्रासीवादीकरण किया गया। स्त्रियों को फ्रासीवादी राज्य के



बेनिटो मुसोलिनी (1883-1945)

लिए बलवान पुत्र सप्लाई करने वाली माँ की आदर्श भूमिका प्रदान की गयी। 1932 में मुसोलिनी ने अपने एक भाषण में बीसवीं सदी को फ्रासीवाद की सदी बताया। उसने स्वतंत्रता को राज्य की स्वतंत्रता और उसके मातहत व्यक्ति की स्वतंत्रता का पर्याय करार दिया।

फ्रासीवाद के अध्येताओं का विचार है कि मुसोलिनी ने फ्रासीवादी राज्य का ढाँचा तो खड़ा कर दिया, पर सामाजिक इंजीनियरिंग करके नये फ्रासीवादी मनुष्य की रचना करने की उसकी कोशिश पूरी तरह सफल नहीं हुई। फ्रासीवाद की तरफ खिंचने के बावजूद इटली का मुख्यतः कृषिप्रधान समाज परिवार की संस्था को दोगुने दर्जे पर डाल कर नयी सामूहिकता के मातहत होने के लिए तैयार नहीं हुआ। न ही कैथोलिक चर्च के प्रति लोगों की निष्ठा कम हुई। लेकिन दूसरी तरफ जर्मनी की धरती पर नाज़ीवाद के रूप में फ्रासिज़म की सोशल इंजीनियरिंग अधिक कामयाब साबित हुई। जनवरी, 1933 में चांसलर नियुक्त होते ही हिटलर ने नागरिक अधिकारों को सीमित करने की मुहिम शुरू कर दी और वामपंथियों के खिलाफ अभियान छेड़ दिया। एक अल्पमतीय सरकार से शुरू करके साल भर के भीतर ही हिटलर ने अन्य सभी राजनीतिक ताकतों पर पाबंदी लगा कर एक पार्टी की हुकूमत स्थापित कर ली। डॉक्टरों, इंजीनियरों, वकीलों, अध्यापकों और युवकों और खेल-कूद के सभी संगठन नाज़ी पार्टी के मातहत हो गये। इतालवी फ्रासिस्टों के विपरीत नाज़ी पार्टी ने जर्मन सामाजिक जीवन को पूरी तरह से अपने क़ब्ज़े में ले लिया। नाज़ियों ने एक तरफ तो मज़दूर की मेहनत का उत्सव मनाया, और दूसरी

तरफ़ उनसे ट्रेड यूनियनों में संगठित होने का अधिकार छीन लिया गया। नस्ली रूप से विशुद्ध जर्मन समाज बनाने के लिए यहूदियों और जिप्सियों का योजनाबद्ध उन्मूलन शुरू हुआ। नाज़ियों ने जर्मन नस्ल को विकलांगों, विक्षिप्तों, नशेड़ियों और शारीरिक रूप से कमजोरों के दुष्प्रभावों से बचाने के लिए यूजेनिक्स आधारित प्रजाति-सुधार योजनाएँ चलायीं जिसके तहत अवांछित समझे जाने वाले सत्तर हज़ार लोगों की हत्याएँ की गयीं और लाखों लोगों को बधिया कर दिया गया।

फ़ासीवादी परिघटना के कारणों को लेकर विद्वानों के बीच विवाद है। उदारतावादी कहते हैं कि फ़ासीवाद की जड़ सर्वसत्तावादी राज्य की इच्छा में निहित है। ईसाई सिद्धांतकारों का ख़याल है कि इसका जन्म सेकुलर समाज बनाने की कोशिशों का परिणाम है। राष्ट्रवाद के आलोचक इसे आक्रामक राष्ट्रवादी नतीजा मानते हैं। मार्क्सवादी इसे आधुनिक औद्योगिक समाजों की अंतर्विरोधी प्रकृति की देन करार देते हैं। कुछ विद्वानों की राय है कि फ़ासीवाद के उदय में समाजशास्त्रीय पैटर्न देखने के बजाय उसकी व्याख्या एक युग की विशेषता के रूप में की जानी चाहिए।

समाज-वैज्ञानिकों के बीच इस बात पर भी बहस है कि हिटलर और मुसोलिनी के पराभव के बाद फ़ासीवाद की ताक़त वास्तव में कितनी बची है। हान्ना एरेंट और कार्ल फ़्रेड्रिख़ जैसे चिंतकों की मान्यता है कि फ़ासीवाद को एक ख़ास तरह के सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। कई विद्वानों ने आधुनिक समाजों में फ़ासीवादी वैचारिक प्रवृत्तियों के असर की शिनाख़्त की है। फ़ासीवाद की प्रभावी अवधि पहले और दूसरे विश्व-युद्ध के बीच की थी। लेकिन फ़ौजी हार के बाद भी इस विचारधारा पर आधारित पार्टियाँ और संगठन दुनिया के विभिन्न देशों की राजनीति में राजनीतिक-सामाजिक बहुलवाद का विरोध और सांस्कृतिक समरूपता का समर्थन करते रहे। ब्रिटिश नैशनलिस्ट पार्टी, फ्रेंच नैशनल फ्रंट, इटैलियन नैशनल एलायंस और स्पेन में जनरल फ्रैंको की हुकूमत को फ़ासीवादी राज्य के युद्धोपरांत उदाहरण के रूप में देखा जाता है। इसके अलावा भी कई देशों में ऐसे संगठन कार्यरत हैं जो अपनी स्थानीय परिस्थितियों के मुताबिक़ सांस्कृतिक समरूपता और बहुसंख्यकवाद के पक्ष में राजनीतिक मुहिमें चलाते हैं। उनके नेताओं और सिद्धांतकारों की बातों में हिटलर और मुसोलिनी की प्रशंसा भी दिखाई देती है। इस लिहाज़ से उन्हें अक्सर फ़ासीवादी करार दे दिया जाता है, भले ही वे युरोपीय फ़ासीवाद के सभी प्रमुख मानकों पर खरे न उतरते हों। भारत में 1925 से सक्रिय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ एक ऐसा ही बहुचर्चित संगठन है।

**देखें :** अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन और सुशासन, फ्रेड्रिख़ वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वालज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

### संदर्भ

1. डब्ल्यू. लैकर (सम्पा.) (1979), *फ़ासिज़म : अ रीडर्स गाइड; ऐनालिसिस, इंटरप्रिज़ंस, बिब्लियोग्राफी*, पेंगुइन, हारमंड्सवर्थ.
2. ई. नोल्ड (1969), *श्री फ़ेसिज़ ऑफ़ फ़ासिज़म : एक्शन फ़्रॉंकाइज़, इटैलियन फ़ासिज़म, नैशनल सोशलिज़म, न्यू अमेरिकन लाइब्रेरी, न्यूयॉर्क*.
3. एस.जी. पेन (1980), *फ़ासिज़म : कम्परीज़न ऐंड डेफ़िनिशन, युनिवर्सिटी ऑफ़ विस्कॉंसिन प्रेस, मैडिसन*.
4. आर. बेसल (सम्पा.) (1996), *फ़ासिस्ट इटली ऐंड नाज़ी जर्मनी : कम्परीज़ंस ऐंड कंट्रास्ट्स*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

## फ़िल्म और सेक्शुअलिटी

(Film and Sexuality)

सिनेमा और उसकी प्रौद्योगिकी में सेक्शुअलिटी को अपने तरीके से गढ़ने की क्षमता होती है। शुरू से ही उसकी इस विशेषता का इस्तेमाल इतरलैंगिक (हेटरोसेक्शुअल) आत्मपरकता गढ़ने के लिए किया जाता रहा है। इसके तहत निरूपित पुरुषत्व आम तौर पर सक्रियता और कामना से सम्पन्न होता है, और स्त्रीत्व की रचना निष्क्रियता और काम्यता के आयामों से होती है। सत्तर के दशक में नारीवादी सिद्धांतकारों ने इस संरचना को प्रश्नांकित करने के लिए फ़्रॉयड और लकाँ के विचारों का बेहतरीन इस्तेमाल किया। परिणामस्वरूप सेक्शुअलिटी पर होने वाली बहस में मनोविश्लेषण के विमर्श को स्थान मिला। दूसरी तरफ़ संस्कृति-अध्ययन के क्षेत्र में उठे नस्ल, वर्ग और जेंडर के मुद्दों ने भी इसमें योगदान किया। इस दायरे में क्वियर-सिनेमा



का पदार्पण कुछ देर से हुआ। शुरू में क्वियर फ़िल्म-संस्कृति ने अवाँगार्ड-सिनेमा और भूमिगत-सिनेमा आंदोलन के साथ जुड़ कर इतरलैंगिकता के बोलबाले को चुनौती दी। समलैंगिक आत्मपरकताएँ रची गयीं। इस दीर्घकालीन संघर्ष का परिणाम यह निकला कि व्यावसायिक सिनेमा में समलैंगिकता के निरूपणों को जगह मिलने लगी। इतरलैंगिकता के वर्चस्व के मुकाबले समलैंगिकता की यह राह आसान नहीं थी। उसे राजनीतिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में कड़े (यहाँ तक कि हिंसक भी) विरोध का सामना करना पड़ा। जो भी हो, सिनेमा के संसार में सेक्शुअलिटी के नाम पर इतरलैंगिकता को आज भी विशेष प्राथमिकता मिलती है, पर समलैंगिक-इयत्ता भी हाशिये से निकल पर मुख्य धारा में आ चुकी है। इस सिलसिले में भारतीय उदाहरणों पर गौर करने से पहले जरूरी है कि पश्चिमी जगत में चले संबंधित विमर्श और सिद्धांतीकरण पर नज़र दौड़ा ली जाए (इसमें क्वियर-सिनेमा पर चर्चा भी शामिल है)।

नारीवादी योगदान : 1973 में क्लेयर जांस्टन ने व्यावसायिक फ़िल्मों में स्त्री की बनावट को खोलने का पहला बौद्धिक प्रयास किया। उन्होंने पता लगाया कि उसके बिम्ब को कैसे फ़्रेम किया गया है, उसे कैसी पोशाक पहनायी है, उस पर किस कोण से प्रकाश फेंका गया है, कथांकन में वह किस जगह स्थित है, पुरुष चरित्र किस तरह स्त्री को अपनी काम्य-वस्तु बना कर मातृत्वात्मकता (ओडिपल ट्रेजेक्टरी) की तरफ़ जाता है, कैमरा-वर्क और लाइटिंग से किस तरह स्पष्ट होता है कि पुरुष चरित्र की स्वैरकल्पनाएँ स्त्री को अपना केंद्र बना रही हैं। जांस्टन की मान्यता थी कि अगर ये सब बातें निकल-निकल कर आ जाएँगी तो फ़िल्म के पाठ और उसकी विचारधारा को अलग-अलग किया जा सकेगा और स्त्री के सिनेमा को उभरने की गुंजाइश मिलेगी। पुरुष-स्वैरकल्पना के दायरे से परे जाते हुए जांस्टन ने स्त्री की स्वैरकल्पना और कामना के प्रश्नों को भी सम्बोधित किया।

1975 में लौरा मलवी ने मातृमनोग्रंथि के प्रभाव की भिन्न व्याख्या की। उन्होंने कहा कि दर्शक की मैस्क्युलिन स्थिति उसे नारी-देह के यौनीकरण और वस्तुकरण की तरफ़ ले जाती है। कैमरा स्त्री की दैहिक सुंदरता की तरफ़ ध्यान खींचता है। वह उसकी प्रस्तुति इस क्रूर सम्पूर्णता के साथ करता है कि पुरुष दर्शक को उसमें शिश्न की अनुपस्थिति न सताती है, और न ही उससे बधियाकरण (कैस्ट्रेशन) का भय निकलता है। ऐसा करने के लिए कैमरा नारी-देह को शिश्न की तरह तना हुआ दिखाता है। मलवी ने दावा किया कि पुरुष की दृश्य-रत्यात्मक निगाह (वॉयरिस्टिक गेज़) उसके अवचेतन द्वारा बधियाकरण के भय की अनुक्रिया है। स्त्री को नियंत्रित और दण्डित करने (यहाँ तक कि उसकी हत्या कर

देने) की कामना की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति इसी निगाह में होती है।

मलवी ने यह भी पूछा कि इस पुरुष-केंद्रित सिनेमा में स्त्री-दर्शक किस तरह चाक्षुष आनंद प्राप्त करती है? इसके लिए वह या तो स्क्रीन पर मौजूद स्त्री किरदार की निष्क्रिय स्थिति के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेती है या फिर उसे पुरुष की स्थिति ग्रहण करनी पड़ती है। मलवी के ये अवलोकन तरह-तरह की सम्भावनाओं से भरे हुए थे। फ़ॉयड चूँकि शिश्न-ईर्ष्या (या शिश्न-अभाव) से परे जाने में असमर्थ रहे थे, इसलिए उन्होंने स्त्री की मातृमनोग्रंथि का संतोषजनक सिद्धांतीकरण नहीं कर पाया था। नारीवादी विद्वानों ने दावा किया कि केवल पुरुष की ही मातृमनोग्रंथि नहीं होती बल्कि स्त्री की भी होती है, और शिश्न-ईर्ष्या की अवधारणा एक पितृसत्तात्मक गढ़ंत है। उन्होंने फ़ॉयड के इस दावे को चुनौती दी कि बच्चा अपनी माँ को पुरुष के शिश्न-रहित संस्करण के रूप में देखता है। इस बौद्धिक उद्यम के पीछे कोशिश यह थी कि स्त्रीत्व को पुरुषत्व के संदर्भ-बिंदु की गिरफ्त से निकाला जाए।

क्वियर-सिनेमा : क्वियर-थियरी एक उत्तर-आधुनिक सिद्धांत है जिसने सेक्स, जेंडर और सेक्शुअलिटी पर होने वाली चर्चाओं को पहले के मुकाबले कहीं व्यापक बना दिया है। इसके आधार पर बने सिनेमा का जोर समलैंगिकों के सकारात्मक चित्रण पर उतना नहीं है, जितना समलैंगिक राजनीति की बेहिचक दावेदारियों पर है। वह सेक्शुअलिटी को निर्धारित और तत्त्वतावादी तात्पर्यों की जकड़ से निकालना चाहता है। वह रूढ़िवायियों को कूड़ेदान में फेंकते हुए अतिरंजनाओं के साथ-साथ जानी-बूझी अश्लीलता को भी अपने औज़ार की तरह इस्तेमाल करता है। यह मानना पड़ेगा कि क्वियर-सिनेमा की दुस्साहसिक पहलकदमियों के कारण ही फ़िल्म-अध्ययन के तहत नब्बे के दशक में पोर्नोग्राफी पर गम्भीर चर्चा शुरू हो पायी।

हालाँकि समलैंगिक अस्मिताओं को लेकर फ़िल्मों बनाने का चलन बहुत पुराना है, पर एक अवधारणा के तौर पर क्वियर सिनेमा का सूत्रीकरण 1991 के टोरंटो फ़िल्मोत्सव से माना जाता है। इसमें अस्सी के दशक से बनने वाली वे फ़िल्में दिखाई गयी थीं जो 'गे' अर्थात् समलैंगिक पुरुषों और उनकी जीवन-स्थितियों पर रोशनी डालती थीं। एड्स की महामारी और सेक्शुअलिटी का संबंध स्पष्ट होते ही नब्बे के दशक में क्वियर-सिनेमा के प्रति व्यावसायिक आकर्षण बढ़ गया। अमेरिकी में गस वॉ सेंट ने *माई ओन इडाहो* और *इविन काऊगर्ल्स गेट द ब्लूज़* जैसी चर्चित फ़िल्में बनायीं। धीरे-धीरे क्वियर-सिनेमा के झण्डे तले पुरुष और स्त्री समलैंगिक विषयवस्तुओं पर फ़िल्म बनाने वाले निर्देशकों का एक

सिलसिला विकसित होने लगा। इस सिनेमा का सौंदर्यशास्त्र शैलियों की विविधता पर जोर देता था इसलिए उसे खुद उन लोगों ने ही 'होमो-पोमो' जैसा हल्का-फुल्का नाम दिया।

अपनी सफलताओं के बावजूद क्वियर-सिनेमा की समस्या यह है कि वह लेस्बियन फ़िल्मकारों की सक्रियता के बावजूद स्त्री-समलैंगिक अस्मिता से जुड़ी उलझनों का समाधान नहीं कर पाया है। फ़िल्म-उद्योग में गे फ़िल्मों के लिए वित्त-पोषण मिलना जितना आसान है, लेस्बियन फ़िल्मों के लिए उतना ही मुश्किल। गे फ़िल्मों का सफ़र तो *माई ओन इडाहो* से चलता हुआ *ब्रोक बैक माउंटेन* (ऑगली) जैसी मुख्यधार की फ़िल्मों तक आ चुका है। पर कुछ अपवादस्वरूप उल्लेखनीय लेस्बियन फ़िल्मों के अलावा स्त्री-समलैंगिकता को वीडियो का सहारा लेकर प्रति-सिनेमा का मीडियम अपना पड़ रहा है।

अक्सर यह सवाल पूछा जाता है कि क्या पश्चिमी मनोविश्लेषण और क्वियर-सिद्धांत का सहारा लेकर भारतीय सेक्शुअलिटी की अभिव्यक्तियों पर गौर किया जा सकता है? जिस समय हॉलीवुड हेटरोसेक्शुअलिटी को प्राथमिकता देते हुए पुरुषत्व को सक्रिय और स्त्रीत्व को निष्क्रिय सेक्शुअलिटी के रूप में निरूपित कर रहा था, उस समय भारतीय व्यावसायिक सिनेमा में सेक्शुअलिटी का समीकरण कुछ अलग तरह का था। साठ और सत्तर के दशक की रोमांटिक कॉमेडी फ़िल्मों में नायक को अगर कामनाओं से खदबदाता हुआ दिखाया जाता था, जिसकी अनुक्रिया में नायिका भी एक निश्चित मर्यादा में अपनी कामना की अभिव्यक्ति गीत और नृत्य के जरिये करती थी। वैम्प (खलनायिका) के मुकाबले तो कामना और काम्यता का यह समीकरण उलट ही जाता था। वैम्प की रोमानी और ऐंद्रिक सक्रियता के बरक्स नायक एक ठंडी ऐंद्रिकता के साथ सामने आता था। उसका यह ठंडापन निष्ठा और नैतिकता के रंगों का इस्तेमाल करके पुंसत्वहीनता में पतित होने से बचा लिया जाता था। कहना न होगा कि भारतीय फ़िल्मों में सेक्शुअल निरूपण की यह भिन्नता मुख्यतः इतरलैंगिक प्राथमिकताओं के तहत ही व्यक्त हुई है। लेकिन इतरलैंगिक सीमा में जकड़ी होने के बावजूद यह प्राथमिकता स्त्री की सेक्शुअल-एजेंसी से पूरी तरह वंचित नहीं है।

चूँकि भारतीय फ़िल्म-अध्ययन ने अभी तक व्यावसायिक फ़िल्मों में संगीतात्मकता और उसके माध्यम से निरूपित हुए रोमानी प्रेम और सेक्शुअलिटी के विमर्श के बारे में अपेक्षित अध्ययन नहीं किया है, इसलिए उसके विद्वान अधिकतर यह पता लगाने में समय खर्च करते रहे कि सेंसर द्वारा स्क्रीन पर चुम्बन प्रतिबंधित करने के राजनीतिक-सामाजिक तात्पर्य क्या थे, और ऐंद्रिक प्रेम का विमर्श

विकसित होने में हिंदुओं की जातिप्रथा किस तरह की बाधाएँ पेश करती है। इस सीमा के बावजूद हिंदी फ़िल्मों में सेक्शुअलिटी के प्रसंगों की कई गहन समीक्षाएँ सामने आयीं हैं। मसलन, गोविंद निहलानी की *अर्धसत्य* में चित्रित ओम पुरी की द्वंद्वग्रस्त मर्दानगी को अमिताभ बच्चन द्वारा निरूपित प्रबल और अपराजेय पौरुष को श्रेयस्कर बताया गया। श्याम बेनेगल की *मण्डी* को देख कर यह प्रश्न पैदा हुआ कि क्या चकलाघर की यौनदासता में भी स्त्रियाँ मजा ले सकती हैं? रवि वासुदेवन ने पचास के दशक की पारिवारिक प्रेम कथाओं के संदर्भ में सूत्रीकरण किया कि उनमें स्त्री की सेक्शुअलिटी अच्छे-बुरे, देहात-शहर, भारतीय-पश्चिमी, पवित्रता-यौनिकता, कर्तव्य-कामना के द्विभाजन में फँसी नजर आती है। माधव प्रसाद ने निजी धरातल पर यौन-अंतरंगता और स्त्री की देह को दर्शनीय बना कर पेश करने वाले निरूपणों में अंतर किया। तेजस्विनी निरंजना ने शक प्रकट किया कि मणि रत्नम की फ़िल्म *मुम्बई* हिंदू पुरुष और मुसलमान स्त्री की ऐंद्रिकता का चित्रण करके साम्प्रदायिकता के संकट को और जटिल बना देती है।

बहरहाल, ये अवलोकन नब्बे के दशक के उत्तरार्ध में विकसित हुई सेक्शुअलिटी की भारतीय राजनीति के सामने ये चर्चाएँ अब फीकी लगने लगी हैं। बासु भट्टाचार्य *आस्था* जैसी फ़िल्म बना कर मध्यवर्गीय भद्र स्त्री की सेक्शुअलिटी पर उपभोक्तावाद के सकारात्मक-नकारात्मक प्रभावों और नैतिक मर्यादाओं के कारण अतृप्त कामनाओं की संतुष्टि की जाँच-पड़ताल कर चुके हैं। अनिवासी फ़िल्मकार दीपा मेहता द्वारा निर्मित *फ़ायर* भारतीय नारीवादियों और सेक्शुअलिटी के विमर्शकारों ने विचारोत्तेजक बहस की है। फ़िल्म में स्त्री-समलैंगिकता के निरूपण की क्वालिटी को तरह-तरह से जाँचा गया है। लेकिन यह बहस अभी सीधे-सीधे फ़िल्म-अध्ययन से नहीं जुड़ सकी है। फिर भी कम से कम इतना जरूर माना जा सकता है कि *फ़ायर* आखिरकार एक भारतीय फ़िल्म थी जिसके कारण पृष्ठभूमि में पड़ी रहने वाली लेस्बियन या स्त्री-समलैंगिकता की धारणाएँ सार्वजनिक बहस के दायरे में आ गयीं।

**देखें :** अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवाँगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, प्रलेश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

## संदर्भ

1. रिचर्ड डायर (1977), *गेज़ ऐंड फ़िल्म*, ब्रिटिश इंस्टीट्यूट पब्लिशिंग, लंदन.
2. रिचर्ड डायर (1990), *नाव यू सी इट : स्टडीज़ इन लेस्बियन ऐंड गे फ़िल्म*, रॉटलेज, लंदन और न्यूयॉर्क.
3. जे. गिल (1995), *क्वियर नॉयसेज़*, कैसेल, लंदन.
4. 'स्त्री-समलैंगिकता की आग और 'फ़ायर' प्रसंग' (2008), संकलित : मैरी ई. जॉन और जानकी नायर (सम्पा.), *कामसूत्र से 'कामसूत्र' तक*, वाणी, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

## फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप

(Film and TV Censorship)

लोकतंत्र में बंधन-मुक्त स्वतंत्र प्रेस एक स्थापित मूल्य है। युद्ध और आंतरिक अशांति की अपवाद स्थितियों को छोड़ कर प्रेस स्वतंत्रता का सूचकांक किसी भी लोकतंत्र की सकारात्मक साख के लिए ज़रूरी है। पर प्रेस की ही तरह स्वतंत्र टीवी और स्वतंत्र सिनेमा की चर्चा ज़्यादा नहीं होती। न ही इन माध्यमों की स्वतंत्रता को उस तरह से लोकतंत्र की सफलता के साथ जोड़ा जाता है। अगर सैद्धांतिक आग्रहों को दरकिनार कर दिया जाए तो आम तौर पर समाजों और उनकी राजनीतिक व्यवस्थाओं द्वारा इन दोनों चाक्षुष माध्यमों को किसी न किसी प्रकार विनियमित करना लोकतांत्रिक मूल्यों का उल्लंघन नहीं माना जाता। इसलिए सेंसरशिप के नियम बनाये जाते हैं और उन्हें संस्थागत रूप से लागू किया जाता है। जिन देशों में सेंसर का इस्तेमाल करना उनके संविधानगत मूल्यों के खिलाफ़ जाता है, वहाँ कोशिश यह होती है कि ये दृश्य-माध्यम खुद ही कुछ निश्चित मर्यादाओं के दायरे में काम करने के लिए राजी हो जाएँ। तकनीकी रूप से इन नियमों का मकसद प्रकाशित, प्रसारित और रिकॉर्डिंग सामग्री के उपयोग और वितरण को नियंत्रित करने का होता है। पुस्तकों को सेंसर करने और यहाँ तक कि उन्हें पूरा का पूरा प्रतिबंधित करने के अगनिगत उदाहरण हैं। लेकिन पुस्तकों के बारे में यह नौबत तब आती है जब उनसे संबंधित कोई विवाद उन्हें सेंसर के दायरे में ले आता है। टीवी और फ़िल्मों का मामला अलग है। उन पर सेंसर की ज़्यादा कड़ी और नियमित निगाह टिकी रहती है। फ़िल्मों को तो सार्वजनिक उपभोग के लिए रिलीज़ करने से पहले

सेंसर बोर्ड के सामने पेश करना ही होता है। आम तौर पर सेंसरशिप चार श्रेणियों को ध्यान में रख कर लागू की जाती है : राजनीतिक, धार्मिक, पोर्नोग्राफ़िक और हिंसक। पोर्नोग्राफ़ी, अश्लीलता और हिंसा से संबंधित आपत्तियाँ अधिकतर बच्चों और किशोरों के मानस पर पर पड़ने वाले हानिकारक असर के नाम पर की जाती हैं।

सांस्कृतिक और ऐतिहासिक रूप से किसी सामग्री को आपत्तिजनक और हानिकारक क्रार देने के मानक बदलते रहे हैं। सेंसरशिप के नियम देश और काल के हिसाब से अलग-अलग हैं। उनके साथ जनरुचि और सार्वजनिक नैतिकता का प्रश्न जुड़ा रहता है। इन दोनों कसौटियों का निर्धारण करने में विचारधारा, प्राधिकार और सत्ता की भूमिका प्रमुख होती है। विचारधारा की संरचना समाज पर हावी सांस्कृतिक मूल्यों, विचारों और आस्थाओं के ज़रिये होती है। किसी भी समाज में इन तत्त्वों का समीकरण उसके ऐतिहासिक विकास के स्तर के मुताबिक बनता है। मसलन, अमेरिकी और युरोपीय फ़िल्मों के लिए सेक्स, सेक्शुअलिटी और नग्नता का चित्रण अपने-आप में कोई बेचैन कर देने वाली समस्या नहीं है। इन फ़िल्मों में मैथुन के दृश्य भी आम तौर से दिखाये जाते हैं। लेकिन, भारतीय फ़िल्मों में चुम्बन दिखाने को लेकर भी काफ़ी बहस होती रही है। इसी तरह हिंसा का मसला है। पश्चिमी फ़िल्मों में भीषण और परपीड़क हिंसा और रक्तपात का चित्रण एक रोज़मर्रा की परिघटना है, पर भारत में पर्दे पर दिखाई जाने वाली मारपीट में ज़्यादातर घूँसों की आवाज़ तो ख़ूब आती है, पर उसकी तुलना में न हड्डी टूटती है और न ही खून निकलता है। इसी भारतीय रवैये के कारण युरोप के कला सिनेमा के प्रभाव में बनी कला फ़िल्मों ने अपनी विषय-वस्तुओं और कथानक से यथासम्भव सेक्स से दूर रखा। जबकि फ़्रांस और जर्मनी में बने कला सिनेमा का एक मुख्य लक्षण सेक्स और सेक्शुअलिटी का चित्रण भी था। अमेरिका में तो इन फ़िल्मों का लोकप्रिय बाज़ार सेक्स सिनेमा के तौर पर ही तैयार हुआ था। ख़ास बात यह है कि सेक्स का निस्संकोच निरूपण करने वाली इन युरोपीय कला फ़िल्मों में वहाँ की सरकारों का पैसा लगा था।

सिनेमा : साठ के दशक तक पश्चिमी लोकतांत्रिक देशों में सेंसरशिप के क़ानूनों में ढील नहीं दी गयी थी। अमेरिका में साठ के दशक के उत्तरार्ध में सेंसर की पाबंदियाँ नरम की गयीं। ब्रिटेन, फ़्रांस और स्पेन में सत्तर के दशक के मध्य से पहले ये क़ानून उदार नहीं थे। आम तौर से समझा जाता है कि अपनी राजनीतिक व्यवस्था और संस्कृति के टिकाऊपन के प्रति आश्वस्त देशों को कड़ी सेंसरशिप लागू करने में दिलचस्पी नहीं होती। इसके बावजूद सेंसरशिप दूसरे रास्तों से अपना हस्तक्षेप करती रहती है। अपनी कठोर सेकुलर संस्कृति के लिए चर्चित फ़्रांस जैसे देश में भी मार्टिन

स्कोरसीज़ की 1988 में प्रदर्शित फ़िल्म 'दि लास्ट टेम्पटेशन ऑफ़ क्राइस्ट' को कई शहरों के मेयरों ने प्रदर्शित नहीं होने दिया था। इसके पीछे वहाँ की प्रभावशाली कैथोलिक लॉबी थी। भारत में एक फ़िल्म सेंसर बोर्ड है जो प्रदर्शन से पहले हर फ़िल्म को देख कर उसे सार्वजनिक प्रसारण के लिए उपयुक्त या अनुपयुक्त करार देता है। लेकिन सेंसर का प्रमाणपत्र हासिल करने वाली फ़िल्मों का प्रदर्शन राजनीतिक या धार्मिक संगठनों के उत्पाती कार्यकर्ताओं द्वारा स्थानीय स्तर पर रोके जाने की घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं।

अमेरिका और जर्मनी में तो अब फ़िल्मों को सेंसर करना संविधान के खिलाफ़ माना जाता है। हॉलीवुड की फ़िल्मों पर 'मोशन पिक्चर प्रोड्यूसर्स ऐंड डिस्ट्रीब्यूटर्स ऑफ़ अमेरिका' नामक संस्था नज़र रखती है जो सरकारी न हो कर फ़िल्म व्यवसाय द्वारा 1922 में स्थापित की गयी थी। तेईस साल तक इसके अध्यक्ष रहे विलियम एच. हेज़ के नाम पर इसे हेज़ कोड के नाम से भी जाना जाता है। दिलचस्प बात यह है कि फ़िल्मी सितारों और अन्य संबंधित हस्तियों के अमर्यादित जीवन पर हुई आपत्तियों के आधार पर इस संस्था की स्थापना हुई थी। चूँकि फ़िल्मी सितारे बड़े-बड़े स्टूडियो मालिकों के लिए काम करते थे, इसलिए उनकी जिंदगी में होने वाले सेक्स स्कैंडलों, नशेड़ीपन और आत्म-हिंसा की प्रवृत्ति का उद्योग पर असर पड़ना लाज़मी था। विलियम हेज़ की मान्यता थी कि अगर हॉलीवुड संघीय सरकार के हस्तक्षेप से खुद को बचाना चाहता है तो उसे स्व-विनियमन का संस्थागत प्रयास करना चाहिए। हेज़ कोड के ज़रिये हॉलीवुड अपने सितारों की जिंदगी पर नज़र रखने में तो कामयाब रहा, पर वह अपनी फ़िल्मों पर कोई संयम नहीं लगा पाया। तीस के दशक में अपराध जगत और गिरोहबाज़ों को केंद्र बना कर बनी फ़िल्मों की भर्त्सना की प्रतिक्रिया में एक फ़िल्म निर्माण संहिता जारी की गयी जिसका पालन करना सभी फ़िल्म कम्पनियों के लिए ज़रूरी था। 1968 में इसकी जगह मोशन पिक्चर्स एसोसिएशन ऑफ़ अमेरिका (एमपीए) द्वारा एक रेटिंग सिस्टम लागू किया गया जो आज तक चालू है।

टेलिविज़न : ब्रिटेन और अमेरिका में टीवी उद्योग आम तौर पर स्व-विनियमन के सिद्धांत पर अमल करता है, पर स्क्रीन पर दिखाई जाने वाली हिंसा, नग्नता और सेक्स को नियंत्रित करने के लिए सेंसरशिप कड़ी करने की माँग होती रहती है। समाज में बढ़ती हुई अपराधों की दर, यौन रोगियों की संख्या में होने वाली बढ़ोतरी, बढ़ते हुए तलाक़ और युवाओं में पढ़ने-लिखने के प्रति घटती हुई रुचि की ज़िम्मेदारी अक्सर टीवी के ऊपर मढ़ी जाती है। चूँकि अमेरिकी टीवी को हिंसा के आपत्तिजनक चित्रण के लिए अधिक जाना जाता है इसलिए 1996 में टेलिकम्युनिकेशन

एक्ट के ज़रिये वी-चिप (वी यानी वॉयलेंस) लागू किया गया।

**देखें :** अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवाँगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्मांतरण, फ़िल्म-सिद्धांत, फ़्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

### संदर्भ

1. ए. कुन (1988), *सिनेमा, सेंसरशिप ऐंड सेक्शुअलिटी 1909-1925*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क और लंदन.
2. जी.डी. ब्लैक (1994), *हॉलीवुड सेंसर्स : मॉरलिटी कोइस, कैथोलिक्स, ऐंड द मूवीज़*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. टी.डी. मैथ्यू (1994), *सेंसर्स, चैटो ऐंड विंडुस*, लंदन.
4. जी. बिग्नेल (2004), *एन इंटरडिस्कशन टु टेलिविज़न स्टडीज़*, रॉटलेज, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

## फ़िल्म-सिद्धांत

(Film Theory)

फ़िल्म-सिद्धांत के विकास का इतिहास मोटे तौर पर तीन चरणों में बाँट कर देखा जा सकता है। बीसवीं सदी के दूसरे दशक में फ़्रांस के फ़िल्मकारों और विमर्शकारों को इसकी शुरुआत करने का श्रेय जाता है। सिनेमा को एक महत्त्वपूर्ण कला-रूप की तरह स्वीकार कर लेने और उसकी सांस्कृतिक शक्ति की अनुभूति हो जाने के बाद दुनिया भर में अध्येताओं का ध्यान उसकी तरफ़ आकर्षित हुआ। जल्दी ही सिनेमा-अध्ययन का अनुशासन स्थापित होता चला गया। फ़िल्म-सिद्धांत के पहले तीन दशक सैद्धांतिक बहुलता के थे। इसका दूसरा चरण भी तक्ररीबन तीस साल ही चला जब एक के बाद एक एकात्मक सिद्धांतों का सूत्रीकरण हुआ। इन सभी का दावा था कि केवल उनका आईना ही सिनेमा की सच्चाइयों को दिखाने के लिए काफी है। सत्तर के दशक के बाद एक बार फिर फ़िल्म विमर्शकारों को लगा कि किसी एक महासिद्धांत से सभी तरह के सिनेमाओं का विश्लेषण

करने की उम्मीद करना उचित नहीं होगा। जल्दी ही फ़िल्म-सिद्धांत की दुनिया में सैद्धांतिक बहुलता का बोलबाला हो गया। साठ के दशक में नारीवाद की दूसरी लहर आने पर नारीवादी चिंतकों ने भी फ़िल्म-सिद्धांत में अभूतपूर्व योगदान किया। उन्होंने जेंडर के निरूपण, मनोविश्लेषण, दर्शक और स्क्रीन के बीच रिश्ते और फ़िल्म के पाठालोचन से संबंधित प्रश्नों पर विचार किया। अस्सी और नब्बे के दशक में फ़िल्म-सिद्धांत तीसरी दुनिया के विमर्शकारों द्वारा भी अपने-अपने देश-काल के संदर्भ में समृद्ध किया गया।

1908-10 के बीच फ्रांस में फ़िल्म-निर्माण के पहले दौर (1908-10) से जुड़े विमर्शकारों ने इस प्रश्न पर विचार करना शुरू किया कि क्या सिनेमा रंगमंच और चित्रकला जैसा ही सौंदर्यमूलक आस्वाद दे सकता है? इस प्रक्रिया में जो समझ बनी उसके अनुसार सिनेमा को एक ख़ास तरह की लोकप्रिय कला के रूप में परिभाषित किया गया। जिसके तहत प्रौद्योगिकी और सौंदर्यमूलकता की अन्योन्यक्रिया सम्भव थी। इस कला-रूप का एक अर्थशास्त्र भी था क्योंकि पूँजी के संसर्ग के बिना फ़िल्म नहीं बनायी जा सकती थीं। 1911 में रिकोटो कैनुडो ने अपने घोषणापत्र 'दि बर्थ ऑफ़ सिक्स्थ आर्ट' से दो तरह की बहसें खोलीं।

बहस की पहली धारा के केंद्र में सिनेमाई यथार्थवाद था। जर्मन मनोविद् ह्यूगो मुंस्टरबर्ग की दलील थी कि सिनेमा महज़ यथार्थ का चित्रांकन ही नहीं करता, बल्कि वह तो मनोवैज्ञानिक और सौंदर्यमूलक प्रक्रिया है जिससे हमारे मनोजगत की अनुभूतियों का पता लगता है। यथार्थ को सेल्यूलाइड पर उतारने की प्रक्रिया में सिनेमा कई तरह के यथार्थों को रचता भी है। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद फ़िल्म-सिद्धांत विस्तृत और विविध हुआ। हालाँकि फ़िल्म-अध्ययन में अब भी मुख्यतः फ्रांसीसी फ़िल्मकार और समीक्षक ही सक्रिय थे, पर उनके सोच-विचार के दायरे में उच्च बनाम लोकप्रिय कला और आत्युर शैली का सिनेमा बनाम पटकथा आधारित सिनेमा जैसे विषय आ चुके थे। बीस के दशक के सोवियत सिनेमा द्वारा अपनायी गयी सम्पादन की शैली भी बौद्धिक बेचैनियाँ पैदा कर रही थी। साथ ही साथ व्यक्ति की इयत्ता, अवचेतन और मनोविश्लेषण से संबंधित सिनेमाई सम्भावनाओं पर भी गौर होने लगा। तीस के दशक में मूक सिनेमा से सवाक सिनेमा की ओर जाते ही बहस छिड़ गयी कि ध्वनि फ़िल्मों के सौंदर्यशास्त्र के लिए अच्छी है या बुरी। कुछ ने कहा कि ध्वनि के आने से प्रयोगधर्मी सिनेमा ख़त्म हो जाएगा। पर ज़्यादातर समीक्षकों ने माना कि ध्वनि से इस माध्यम का रैडिकलाइज़ेशन हो जाएगा। उसके संबंध समाज से और गहरे होंगे और उसके प्रिज़्म के ज़रिये भी समाज को देखा जा सकेगा। दूसरे, व्यक्ति के साथ सवाक सिनेमा की अन्योन्यक्रिया उसकी मनोस्थितियों को उघाड़ देगी।

फ़िल्म-सिद्धांत के दूसरे दौर पर चालीस के दशक में हुए द्वितीय विश्व-युद्ध का गहरा प्रभाव पड़ा। नाजियों द्वारा चलाये गये यहूदियों के जातिसंहार की परियोजना और अमेरिकियों द्वारा किये गये एटमी विनाश के बरक्स चिंतन के कई क्षेत्रों में एक ऐसे एकीकृत महा-सिद्धांत की आवश्यकता महसूस की जाने लगी जिससे सुरक्षा और स्थिरता का गारंटी मिल सके। फ़िल्म-सिद्धांत के क्षेत्र में ऐसे तीन प्रयास हुए। सबसे पहले पचास के दशक में आत्युर-सिद्धांत उभरा। फिर साठ के दशक में संरचनावाद ने अपना बोलबाला क्रायम किया। इसके बाद सिनेमा को एक भाषा के रूप में देखने का आग्रह बलवती हुआ।

फ्रेंच का शब्द आत्युर अंग्रेज़ी के ऑथर का समानार्थक था। यह सिद्धांत आग्रह करता था कि फ़िल्मकार को उसी तरह फ़िल्म का ऑथर समझा जाना चाहिए जिस तरह लेखक को उसकी कृति का समझा जाता है। इस नज़रिये की मुख्य समस्या यह थी कि इसके तहत फ़िल्मकार को एक जीनियस रचयिता की हैसियत मिल जाती थी और फ़िल्म-प्रोडक्शन के अन्य महत्वपूर्ण पहलू दूसरे नम्बर पर चले जाते थे। आत्युर-सिद्धांत ने 'महान' निर्देशकों को स्थापित किया जिसकी वजह से फ़िल्म-सिद्धांत के क्षेत्र में कला फ़िल्मों का बोलबाला हो गया। इसके बाद आया संरचनावाद और आत्युर-संरचनावाद का ज़माना। संरचनावादियों का दावा था कि उनके विश्लेषणात्मक औज़ारों से जीवन और जगत के हर पहलू को समझा जा सकता है। लेकिन इसका परिणाम घोर रूपवाद में निकला। संरचनावादी फ़िल्म-निर्माण के सभी पहलुओं का उद्घाटन करने के उद्यम में इतने डूबे रहते थे कि फ़िल्म देखने के आनंद पर चर्चा करने की सम्भावना ही नहीं बचती थी। लेकिन असलियत में संरचनावाद की बारीक कताई भी अंततः फ़िल्मकार और उसके कृति पर ही रोशनी डाल कर रह जाती थी। इससे संबंधित बहसों में क्रिश्चियन मेटज़ ने विशिष्ट योगदान किया। उन्होंने फ़िल्म को समझने का एक भाषायी प्रतिमान तैयार किया। फ़िल्म-व्याकरण की चर्चा की जाने लगी जिसके माध्यम से किसी फ़िल्मकार की शैली की शिनाख़्त करके यह देखा जा सकता था कि चर्चित फ़िल्म उसके मुताबिक है या नहीं। फ़िल्म को भाषा की तरह ग्रहण करने से संरचनावाद के तहत हावी हुए रूपवादी रुझान और पुष्ट हो गये।

फ़िल्म-सिद्धांत का तीसरा दौर एक बार फिर विविधता और बहुलता की तरफ़ लौटने का था। अब तक विमर्शकारों की समझ में आ चुका था कि संरचनावाद या ऐसे ही किसी महा-सिद्धांत की शरण में जाने से फ़िल्म-निर्माण और उससे जुड़े कई पहलुओं को सम्बोधित नहीं किया जा सकेगा। दिलचस्प बात यह है कि संरचनावाद के

रुतबे को मानने से इनकार करने के बावजूद इस दौर के विद्वानों ने उसे पूरी तरह से खारिज नहीं किया। उत्तर-संरचनावाद को उचित ठहराते हुए उन्होंने 1967 में स्थापित जॉक दरिदा के वि-संरचना सिद्धांत से प्रेरणा लेते हुए पूरी बहस को बहुलतावादी परिप्रेक्ष्य में पेश किया। दरिदा का कहना था कि कोई पाठ पारदर्शी, इकहरा, स्वाभाविक या निर्दोष नहीं होता। उसकी संरचनाओं का विखण्डन करके ही उसके तात्पर्यों का संधान किया जा सकता है। किसी भी कृति का कोई एकात्मक या अंतिम पाठ नहीं हो सकता।

इस नये नज़रिये का परिणाम यह हुआ कि फ़िल्म के साथ-साथ उसके पाठालोचन की प्रक्रिया में 'आत्युर' के स्थान की भी शिनाख्त की जाने लगी। अंतरपाठीयता की शुरुआत हुई और एक फ़िल्म के पाठ पर दूसरे पाठों के प्रभाव की जाँच होने लगी। दूसरे पाठों का मतलब था अन्य फ़िल्मों के प्रभाव पर ध्यान देने के साथ-साथ फ़िल्म में काम करने वाले अभिनेताओं, तकनीशियनों और फ़िल्मकार के बीच की गतिशीलता को भी बहस में लाना। उत्तर-संरचनावाद ने एक प्रश्न यह भी उठाया कि आखिर फ़िल्म की रचना में कर्ता की हैसियत किसे मिलनी चाहिए? फ़िल्म का पाठ कर्ता की भूमिका निभा रहा है, फ़िल्मकार को कर्ता समझा जाना चाहिए या फिर दर्शक कर्ता है?

संरचनावाद के जरिये एक सर्वांग फ़िल्म-सिद्धांत गढ़ने के प्रयासों के मुक़ाबले नारीवादी विद्वानों ने सिद्धांत-बहुलता का तर्क रखा। नारीवाद ने सत्तर के दशक में शुरुआत फ़िल्मों में जेंडर के निरूपण का प्रश्न उठाने से की। अमेरिका और ब्रिटेन में पहला नारीवादी फ़िल्मोत्सव आयोजित किया गया। स्त्रियों को फ़िल्म-निर्माण की तरफ़ आकर्षित करने के लिए उनके फ़िल्म-समूहों का गठन होने लगा। पहली नारीवादी फ़िल्म पत्रिका 'वूमन ऐंड फ़िल्म' का प्रकाशन शुरू हुआ। इन बौद्धिक गतिविधियों ने एक व्यापक प्रक्रिया को गति प्रदान की। फ़िल्म-अध्ययन संबंधी नारीवादी परिप्रेक्ष्यों का विकास हुआ जिनके संयोग से जो शास्त्र बना उसे नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत की संज्ञा दी जाती है। नारीवादियों ने पहले तो समाजशास्त्री-आनुभविक रवैया अख़्तियार करके फ़िल्मों में स्त्री को अक्षतयोनि देवी बनाम छिनाल के द्विभाजन में बाँटने की आलोचना की। फिर फ़्रॉयड से प्रेरणा ले कर फ़िल्म-सिद्धांत में मनोविश्लेषण का योगदान किया। इसके कारण सिनेमा की स्क्रीन और दर्शकों के बीच संबंधों का प्रश्न उभरा। फ़्रॉयड चूँकि शिशन-ईर्ष्या (या शिशन-अभाव) से परे जाने में असमर्थ रहे थे इसलिए वे स्त्री की मातृमनोग्रंथि का संतोषजनक सिद्धांतीकरण नहीं कर पाये। इसलिए फ़िल्म-सिद्धांत के अगले चरण में फ़्रॉयड के बजाय नारीवादियों ने ज़ाक लकाँ द्वारा विश्लेषण में प्रतीकात्मकता यानी भाषा के महत्त्व पर दिये गये जोर से प्रेरणा ली और पितृसत्तात्मक भाषा को वि-संरचना के

औजारों से सम्बोधित करना शुरू कर दिया। साइकोएनालैसिस और डिकंस्ट्रक्शन को जोड़ते ही नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत फ़िल्म के पाठ को खोलने की क्षमता से लैस हो गया। उसने मेलोड्रामा, स्त्री-केंद्रित फ़िल्मों, डराने वाली फ़िल्मों, अपराध केंद्रित फ़िल्मों, थ्रिलर फ़िल्मों और काऊबॉय वाली वेस्टर्न फ़िल्मों को सीवनें खोलनी शुरू कर दीं। नारीवादी विद्वानों ने दावा किया कि केवल पुरुष की ही मातृमनोग्रंथि नहीं होती बल्कि स्त्री की भी होती है, और शिशन-ईर्ष्या की अवधारणा एक पितृसत्तात्मक गढ़ंत है। उन्होंने फ़्रॉयड के इस दावे को चुनौती दी कि बच्चा अपनी माँ को पुरुष के शिशन-रहित संस्करण के रूप में देखता है। इस बौद्धिक उद्यम के पीछे कोशिश यह थी कि स्त्रीत्व को पुरुषत्व के संदर्भ-बिंदु की गिरफ्त से निकाला जाए। अस्सी के दशक के मध्य तक नारीवादी विद्वानों को लगने लगा कि फ़िल्मों के महज़ पाठालोचन से ही काम नहीं चलेगा, बल्कि उन्हें उनके निर्माण और ग्राहकता के ऐतिहासिक व सामाजिक संदर्भों में भी देखना पड़ेगा। इसी दौरान फ़्रांसीसी चिंतक मिशेल फ़ूको द्वारा प्रस्तुत सत्ता संबंधी आख्यान का नारीवादी चिंतन पर गम्भीर असर पड़ा। नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत ने तात्पर्यों की बहुलता पर ध्यान दिया। उसने पाया कि किसी एक फ़िल्म निर्माण की प्रक्रिया में एक से ज्यादा निर्देशक, पटकथा लेखक और अन्य क्षेत्रों के लोग जुड़े होते हैं। इन सब की कोशिशों से जो यथार्थ बनता है उसके पीछे फ़िल्म उद्योग के भीतरी सत्ता-संबंधों और प्रतिरोधों की भूमिका होती है। दर्शकों को भी एक विचारधारात्मक गढ़ंत के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। दर्शकों को स्त्री और पुरुष के सहज द्विभाजन के भी तहत भी नहीं देखा जा सकता। आयु, जेंडर, नस्ल, वर्ग और सेक्शुअलिटी के मुताबिक दर्शक की ग्राहकता बदलती रहती है। स्क्रीन और दर्शक के बीच का रिश्ता बदलता रहता है।

फ़िल्म-सिद्धांत का विकास जारी है। भारतीय विमर्शकारों ने भी इसमें योगदान किया है। अस्सी और नब्बे के दशक में भारतीय सिद्धांतवेत्ताओं ने आत्युर-सिनेमा के कलावादी आग्रहों से परे जा कर व्यावसायिक भारतीय फ़िल्मों पर ध्यान दिया। उन्होंने पारम्परिक भारतीय रंगमंच से पुरोदर्शन (फ़्रंटलिटी) का सिद्धांत लेकर उसकी रोशनी में लोकप्रिय फ़िल्म संस्कृति की आधारभूत सांस्कृतिक राजनीति पर रोशनी डाली।

देखें : अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवांगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्मांतरण, फ़्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत

सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

### संदर्भ

1. डी. एंड्रू (1984), *कम्पेय्ट्स इन फ़िल्म थियरी*, ओयूपी, न्यूयॉर्क और ऑक्सफ़र्ड.
2. जी. मास्ट (1992), एम. कोहेन और एल. ब्रादी (सम्पा.), *फ़िल्म थियरी ऐंड क्रिटिसिज़म*, ओयूपी, न्यूयॉर्क और ऑक्सफ़र्ड.
3. जे. कॉगी (सम्पा.) (1981), *थियरीज़ ऑफ़ ऑथरशिप*, रॉटलेज़ ऐंड कीगन पॉल, लंदन.
4. एस. हीथ (1981), *क्वेशंस ऑफ़ सिनेमा*, मैकमिलन, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

## फ़िल्मांतरण

(Adaptation)

साहित्यिक कृतियों के फ़िल्मांतरण का इतिहास फ़िल्मों के इतिहास जितना ही पुराना है, लेकिन कला के एक स्वतंत्र रूप की तरह मान्यता प्राप्त करने के लिए सिनेमा और साहित्य का द्वंद्व भी लगभग उतना ही पुराना है। उन्नीसवीं सदी के आखिरी सालों में जब ल्युमीरे बंधुओं ने अपनी तरह दृश्यों वाली फ़िल्में बनायीं तो वे बाइबिल का फ़िल्मांतरण थीं। नयी सदी में पहला दशक गुज़रते-गुज़रते फ़िल्मकारों की समझ में आ गया कि अगर वे साहित्य की प्रतिष्ठा के साथ इस नये चाक्षुष माध्यम को जोड़ेंगे तो मनोरंजन और श्रेष्ठ अभिरुचि का संगम मध्यवर्गीय और भद्र दर्शकों को आकर्षित कर सकेगा। साहित्य और फ़िल्मों का यह संयोग जैसे-जैसे आगे बढ़ा, इसके शैक्षणिक पहलू उभर कर सामने आये। एहसास हुआ कि फ़िल्मों के ज़रिये किसी राष्ट्र को उसके वसातिक ग्रंथों और साहित्यिक विरासत का परिचय किया जा सकता है। शायद इसीलिए ब्रिटेन में और बीबीसी द्वारा बड़े पर्दे पर दिखाने और उसके बाद टीवी पर दिखाने के लिए बनाये गये रूपांतरणों के साथ-साथ 'टीचिंग पैकेज' भी जारी किया जाने लगा। दूसरी तरफ़ सिनेमा द्वारा आत्मनिर्भर कला-विधा के रूप में स्थापित होने के लिए साहित्य से दूर हटने की कोशिश भी जारी रही। इसी संघर्ष को वाणी देते हुए तीस के दशक में रवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि सिनेमा उस समय तक एक स्वतंत्र कला-माध्यम नहीं बन सकता जब तक वह साहित्य का मुखापेक्षी होना बंद नहीं करता।

फ़िल्मांतरणों ने फ़िल्म-अध्ययन के अनुशासन का ध्यान अपनी तरफ़ बहुत देर से आकर्षित किया। पश्चिम के विश्वविद्यालयों में अंग्रेज़ी साहित्य के पाठ्यक्रम में जब

साहित्यिक कृतियों के रूपांतरणों की समीक्षा जोड़ी गयी तो इसकी अकादमीय पड़ताल की ज़रूरत महसूस हुई। शुरुआत में विमर्श काफ़ी दिनों तक मूल कृति के प्रति सिनेमाई संस्करण की वफ़ादारी के इर्द-गिर्द होता रहा। जाहिर है कि इस दौर पर साहित्य का रुतबा ही हावी था। यह फ़िल्मकारों की ज़िम्मेदारी मानी जाती थी कि वे न तो मूल कथाक्रम से हटें और न ही मूल लेखक द्वारा उसे पिरोये गये तात्पर्यों में कोई संशोधन करें। जाहिर है कि इस समझ फ़िल्म-माध्यम की नैसर्गिक विशेषताओं की उपेक्षा के आधार पर गढ़ी जाने के कारण सीमित क्रिस्म की थी। अंग्रेज़ी साहित्य के विश्वविद्यालयीय विभागों में होने वाला विमर्श यह समझने के लिए तैयार नहीं था कि लिखा हुआ शब्द जब कैमरे के ज़रिये बिम्ब और ध्वनि में अंकित किया जाता है तो उसमें रूप और कथ्य के स्तर पर उल्लेखनीय तब्दीलियाँ हो जाती हैं। ये तब्दीलियाँ फ़िल्मकार द्वारा इच्छित भी हो सकती हैं, उसकी इच्छा से स्वतंत्र भी। आखिरकार कैमरा जब किसी वस्तु की फ़ोटो उतारता है तो वह अनिवार्यतः उसके साथ एक ऐसा गठजोड़ क्रायम कर लेता है जिसकी प्रकृति किसी चित्रकार द्वारा उस वस्तु को देख कर या उसकी कल्पना के आधार पर उसका चित्र बनाने से भिन्न होती है। इसीलिए यथार्थ और कैमरागत सिनेमाई यथार्थ दो अलग-अलग अवधारणाएँ हैं।

फ़िल्मांतरणों को समझने का दूसरा दौर अधिक वस्तुगत साबित हुआ। फ़िल्म-अध्येता इस नतीजे पर पहुँचे कि सिनेमा की प्रौद्योगिकी और निर्माण-प्रक्रिया साहित्यिक कृति के मूल पाठ में कम से कम छह परिवर्तन तो करती ही है। पहला परिवर्तन उस समय होता है जब मूल पाठ के आधार पर पटकथा तैयार की जाती है। उस पटकथा को सेल्युलाइड पर उतारते समय तीसरा पाठ रचा जाता है। इस तीसरे पाठ में चार अन्य पाठों की भूमिका होती है। निर्देशक का पाठ, फ़िल्म के स्टार-अभिनेता का पाठ, फ़िल्म-निर्माण के संदर्भों से उपजने वाला पाठ और इन तमाम पाठों के अंतर्पाठों का पाठ। पाठों की इस शृंखला को अध्येताओं ने सूचकों के एक सिलसिले के रूप में दिखाया है जो रचना के केंद्रीभूत लेखकत्व को काफ़ी हद तक बिखेर देते हैं। दिलचस्प बात यह है कि लिखे हुए शब्द के प्रति निष्ठा न रखने से संबंधित दर्शकों और समीक्षकों की शिकायत के बावजूद फ़िल्मांतरित परिणाम अपने नये पाठीय अर्थों, उद्देश्यों और प्रेरणाओं के साथ आधारभूत कृति का ही परिणाम माना जाता है। अर्थात् फ़िल्म साहित्यकार की रचना को वह बनने के लिए बाध्य करती है जो वह नहीं है और साथ में एक नयी कृति रचने का दावा भी बनता है। इसी दोहरी प्रक्रिया के तहत फ़िल्मांतरण में अंतर्निहित परिवर्तनकारी प्रकृति प्राचीन काल के क्लासिकों का सिनेमा के पर्दे पर आधुनिकीकरण कर देती है। सिनेमा निकट इतिहास से ली गयी कृतियों के साथ भी ऐसा ही सुलूक करता है। जाहिर है कि सम्भवतः रवींद्रनाथ ठाकुर द्वारा बतायी गयी राह पर चलते हुए

सिनेमा ने साहित्य पर अपनी निर्भरता से अंततः पीछा छोड़ा लिया है। पिछले सौ साल में बनी हिंदी फ़िल्मों को ही अगर गिना जाए तो उनकी संख्या दसियों हजार में आती है। लेकिन रचनात्मक साहित्य को आधार बना कर बनायी गयी फ़िल्मों की संख्या डेढ़ सौ के आस-पास ही है। अध्ययनों के जरिये स्पष्ट हो चुका है कि फ़िल्मीकरण के प्रभाव में साहित्य की कृति वह नहीं रह जाती, जो वह थी।

फ़िल्मांतरण मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं : साहित्य की स्थापित कृतियों का फ़िल्मांतरण, मंचित नाटकों का फ़िल्मांतरण और अत्यंत लोकप्रिय कृतियों का फ़िल्मांतरण जो लुगदी-साहित्य की श्रेणी में सीमित रहने के लिए मज़बूर होती हैं। हिंदी-फ़िल्मों में इन तीनों तरह के फ़िल्मांतरणों की समृद्ध परम्पराएँ हैं। इसलिए हॉलीवुड द्वारा किये गये फ़िल्मांतरणों पर गौर किये बिना केवल भारतीय फ़िल्मों पर विचार करने से ही साहित्य और सिनेमा की परस्पर सांस्कृतिक राजनीति के आयाम स्पष्ट हो सकते हैं।

एक से अधिक फ़िल्मकार किसी एक साहित्यिक कृति को फ़िल्माते हैं तो जो नतीजा एकदम भिन्न-भिन्न फ़िल्मों के रूप में निकलता है। इसका सबूत शरत चंद्र चट्टोपाध्याय की कृति *देवदास* के प्रथमेश चंद्र बरुआ, विमल राय, संजय लीला भंसाली और अनुराग कश्यप द्वारा किये गये फ़िल्मांतरण पर नज़र डालते ही मिल जाता है। बरुआ के बीस साल बाद विमल राय का फ़िल्मांतरण आया। उसके चार दशक बाद भंसाली का *देवदास* पर्दे पर उतरा, और उसी के तक्ररीबन तुरंत बाद कश्यप का। इससे साफ़ होता है कि अगर एक कृति पर दो फ़िल्मकार एक साथ फ़िल्म बनायें तो भी नतीजों में बहुत भिन्नता होगी। बरुआ की फ़िल्म देखने के बाद समीक्षकों को लगा था कि *देवदास* से भी अहम किरदार पारो का है। बहुतों ने उपन्यास नहीं पढ़ा था क्योंकि *देवदास* का अनुवाद हिंदी फ़िल्म के प्रदर्शन के बाद में आया, इसलिए समीक्षक-मानस पर नायक के किरदार का ज़्यादा बोलबाला नहीं था। हो सकता है बरुआ ऐसा प्रभाव न डालना चाहते हों और कथानक में *देवदास* से भी ज़्यादा पारो को महत्त्व मिल जाना भीतरी और बाहरी पाठों की अन्योन्यक्रिया का ही अनिच्छित परिणाम हो। विमल राय का *देवदास* शरत बाबू की कृति के साथ सर्वाधिक निष्ठा रखता है। भंसाली के *देवदास* में बंगाल के ग्रामीण परिदृश्य की जगह रंगों का भूमण्डलीकृत हंगामा और माल-संस्कृति के तहत बनायी गयी इमारतों में लगे चमचमाते काँचों का सौंदर्यशास्त्र अपनाया गया है। कश्यप का *देवदास* शरत बाबू के नायक की पैरोडी है, पर उसकी नायिकाएँ एक आधुनातन सेक्शुअल एजेंसी से सम्पन्न हैं।

हिंदी में फ़िल्मांतरण के कुछ बेहद सृजनशील उदाहरण श्याम बेनेगल की *जुनून*, सत्यजीत राय की *शतरंज*

के *खिलाड़ी*, विशाल भारद्वाज की *मक़बूल* और *ओंकारा* और राजकुमार हीरानी की *श्री ईडियट* हैं। *जुनून* से पहले रस्किन बांड की कहानी *फ़्लाइंग ऑफ़ पिज़ंस* के बारे में कुछ मुट्ठी भर लोगों को ही पता था। बेनेगल की फ़िल्म ने कमाल यह किया कि शायद अब वे थोड़े-बहुत लोग भी अंग्रेज़ी की उस कहानी को *जुनून* के आईने में देखते हैं। सत्यजीत राय ने प्रेमचंद का इस्तेमाल सामंती पतनशीलता का निरूपण करने के अपने दीर्घकालीन सिनेमाई प्रोजेक्ट के तहत किया। शायद इसलिए हिंदी क्षेत्र के बच्चे-बच्चे द्वारा पढ़ी जा चुकी कहानी का फ़िल्मीकरण दर्शकों को नहीं भाया। आखिरकार राय का फ़िल्मांतरण उस राष्ट्रीय संदर्भ से एकदम वंचित था जिसकी अनकही अनुगूँजें प्रेमचंद की इस अमर कृति में सामान्य पाठक भी सुन लेता है। विशाल भारद्वाज ने *मैकबेथ* और *ओथेलो* का कुछ इस सफ़ाई से भारतीयकरण किया कि अगर वे न बताते तो यह पता ही नहीं लग सकता था कि उनका निर्देशकीय पाठ शेक्सपियर-आधारित है। उन्होंने शेक्सपियरन कल्पना को भारतीय समाज के यथार्थ के साथ गूँथ दिया। उनकी ये फ़िल्में अपराध जगत का दस्तावेज बन कर फ़िल्म-नॉवर् सरीखी श्रेणी का श्रेष्ठ नमूना बन गयीं।

साहित्य के लिखे हुए शब्द का केंद्रीभूत लेखकत्व इन तमाम फ़िल्मों में अपना तयशुदा मुकाम एक सीमा तक छोड़ते हुए दिखता है। लेकिन *श्री ईडियट* तक आते-आते वह पूरी तरह से एक नयी कृति में बदल गया। मूल कृति के लेखक चेतन भगत को चिल्ला-चिल्ला कर कहना पड़ा कि वे इस फ़िल्म की आधारभूत रचना के लेखक हैं, पर उनके दावे पर किसी ने भी कान नहीं दिया।

**देखें :** अतिनाटकीयता, अनुपस्थिति-उपस्थिति, कला सिनेमा, अवाँगार्ड और प्रति-सिनेमा, टीवी और समाचार, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और टीवी-अध्ययन, तीसरा सिनेमा, तीसरी दुनिया का सिनेमा, दक्षिण भारतीय सिनेमा और राजनीति, नारीवादी फ़िल्म-सिद्धांत, फ़िल्म और सेक्शुअलिटी, फ़िल्म और टीवी सेंसरशिप, फ़िल्म-सिद्धांत, प्लैश-बैक, भारतीय सिनेमा-1, 2 और 3, भारतीय फ़िल्म-अध्ययन, भारतीय स्टार सिस्टम, रियलिटी टीवी, विचारधारा और हिंदी सिनेमा, वृत्त-चित्र, सेलेब्रिटी, सोप ओपेरा, सिनेमाई यथार्थवाद, नव-यथार्थवाद, सोवियत सिनेमा, स्टार, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र।

### संदर्भ

1. अरुण कौल (2003), 'स्क्रिप्ट्स : द इनफ़्लुएंस ऑफ़ द लिटरेचर' संकलित : गुलज़ार, गोविंद निहलानी और सैबल चटर्जी (सम्पा.), *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ हिंदी सिनेमा*, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका और पाप्युलर प्रकाशन, दिल्ली और मुम्बई.
2. जी. ब्लूस्टोन (1971), *नोवेल्स इनटु फ़िल्म्स*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफ़ोर्निया प्रेस, लॉस एंजेलिस.
3. बी. मेकफारलेन (1996), *नोवेल्स टु फ़िल्म्स : ऐन इंट्रोडक्शन टु द थियरी ऑफ़ एडेप्टेशन*, ब्लैरेंडन प्रेस, न्यूयॉर्क और ऑक्सफ़र्ड.



## फ्रांसिस बेकन

(Francis Bacon)

आधुनिक विचारों के इतिहास में विज्ञान के दार्शनिक फ्रांसिस बेकन (1561-1626) की शरिखसयत बेहद विवादास्पद रही है। उनके विचारों और उपलब्धियों की वैधता को लेकर आज भी एक तरह का द्वैध बरकरार है। मसलन, सत्रहवीं सदी में बेकन को मानवीय मेधा और वैज्ञानिक चिंतन का अनुकरणीय आदर्श माना जाता था और अट्ठारहवीं सदी में उन्हें ज्ञानोदय का अग्रदूत बताया गया लेकिन उन्नीसवीं सदी में उन्हें सत्ताकामी, कपटी और सच्चे विज्ञान का शत्रु घोषित कर दिया गया। प्रशस्ति, आलोचना और मूल्यांकनगत अतिवाद का यह सिलसिला बीसवीं सदी में भी खत्म नहीं हुआ। विद्वानों का एक वर्ग अगर बेकन को प्राकृतिक इतिहास का अंतर्दृष्टा, सिद्ध तर्कशास्त्री, विज्ञान का सिद्धांतकार तथा कल्पनाशीलता का सिरमौर साबित करता है, तो दूसरा वर्ग उन्हें ठीक इन्हीं विशेषणों का विलोम करार देता है।

बेकन का चिंतन मुख्यतः प्राकृतिक विज्ञान के दर्शन और उसकी सामाजिक प्रासंगिकता को सम्बोधित है। बेकन पर यह तोहमत भी लगायी जाती है कि उनका लेखन मनुष्य को प्रकृति पर वर्चस्व स्थापित करने और उसका शोषण करने का तर्क प्रदान करता है। लेकिन बेकन अपनी चिंतन प्रणाली की मधुमक्खी से तुलना करते हुए इस बात पर जोर देते हैं कि दार्शनिक ज्ञान का तरीका ऐसा होना चाहिए जो प्रकृति के प्रदत्त तत्त्वों या उसकी सम्पदा को रचनात्मक और उपयोगी रूप में संयोजित कर सके। इसके विपरीत पारम्परिक, खास तौर पर मध्यकालीन चिंतकों के लिए बेकन मकड़ी का दृष्टांत उद्धृत करते हुए कहते हैं जिस तरह मकड़ी अपने जाले का निर्माण बाहरी पदार्थों के बजाय अपनी अंतर्दृष्टियों की सामग्री से करती है ठीक उसी तरह मध्यकालीन चिंतकों के विचार आत्मपरक और पूर्व-निर्धारित होते हैं जिन्हें वे समाज की संरचनाओं पर आरोपित करना चाहते हैं। बेकन के मुताबिक प्राकृतिक विज्ञानों की सैद्धांतिकी का काम सामान्य प्रकृति के उन रूपों को उद्घाटित करना होता है जो उसमें निहित भी होते हैं और परम वास्तविकता का नियमन और निर्धारण भी करते हैं। इस तरह बेकन किसी चीज़ या प्राकृतिक परिघटना के ज्ञान की कसौटी इस आधार पर तय करते हैं कि कर्ता या सृजक उस परिघटना को ठोस और भौतिक रूप में पुनः प्रस्तुत कर सकता है या नहीं।

बेकन ने ज्ञान-सृजन की इन पद्धतियों पर अपनी रचना

*इंस्टोरैशियो मैग्ना* के कई खण्डों में विस्तार से विचार किया है। *एडवांसमेंट ऑफ लर्निंग* तथा *न्यू ऑर्गेनॉन* इसी रचना के भाग हैं। अपने समय की बौद्धिक जकड़नों और जड़सूत्रवाद से मुठभेड़ करते हुए बेकन अरस्तू की तर्कमूलक रचना *ऑर्गेनॉन* को भी *न्यू ऑर्गेनॉन* की नयी शब्दावली में विन्यस्त कर देते हैं। बेकन अपनी इस रचना में अरस्तू की इस बात के लिए आलोचना करते हैं कि विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों के लिए मूल धारणाएँ मुहैया कराने के बावजूद वे विज्ञान का कोई ऐसा बुनियादी या सर्वसामान्य सिद्धांत नहीं गढ़ पाये जिसे प्राकृतिक इतिहास और दर्शन की अन्यान्य शाखाओं पर लागू किया जा सके। बेकन के तर्क अरस्तू का ब्रह्मांड चिंतन और उनके द्वारा प्रतिपादित विज्ञान का सिद्धांत असामयिक हो चुका है। उनका कहना है कि अरस्तू प्रकृति को उसके भौतिक रूपों या गतिविधियों में चिह्नित करने के बजाय उसे अनुमानपरक, द्वंद्व तथा तत्त्वज्ञान के नज़रिये से देखने की गलती करते हैं। यही वजह है कि बेकन अरस्तू के नक्शे क्रदम पर चलने वाले अन्य मध्यकालीन चिंतकों को भी नहीं बख्शते।

ज्ञान की प्राचीन और शास्त्रीय परम्पराओं के विरुद्ध बेकन ने अपने लेखन के शुरुआती दौर में ही मोर्चा खोल दिया था। बेकन ने 'वेलेरिअस टरमिनस' जैसी शुरुआती रचना में ही प्राकृतिक दर्शन और दैवी तत्त्वों के घालमेल को अस्वीकार कर दिया था। अपनी नयी पद्धति का खाका पेश करते हुए उन्होंने ज्ञान के समक्ष यह चुनौती खड़ी कर दी थी कि क्या ज्ञान अनश्वर की कार्यविधियों और सम्भावनाओं को यांत्रिक व्यवहार में बदल सकता है। इस तरह बेकन अरस्तू की उस पद्धति को उलट देते हैं जो कारणों की पड़ताल को मुख्यतः एक दिमागी काम मान कर संतुष्ट हो जाना चाहती है। इसकी जगह बेकन यह तजवीज़ करते हैं कि ज्ञान की पद्धति ऐसी होनी चाहिए जो अन्वेषी को नये अनुभवों और उद्घाटनों की ओर ले जाने में सक्षम हो।

यूनान की प्राचीन और शास्त्रीय ज्ञान परम्पराओं से बेकन की यह भिड़ंत उनकी परवर्ती रचना *एडवांसमेंट ऑफ लर्निंग* में भी जारी रहती है। इस रचना में बेकन मानवतावादियों के किताबी ज्ञान पर तंज़ कसते हुए कहते हैं कि ऐसे चिंतक मर्म के बजाय शब्दों से ज्यादा खेलते हैं। यहां बेकन अरस्तू द्वारा प्रतिपादित विज्ञान की अवधारणा को पूरी तरह बदल कर विज्ञान को अपरिहार्य कारणों के ज्ञान के रूप में प्रस्तावित करते हैं। वैज्ञानिक चेतना के इस संधान में बेकन निगमनमूलक दार्शनिकों के साथ पुनर्जागरणकालीन कीमियागरी, जादू तथा ज्योतिष आदि को भी खारिज करते हैं क्योंकि उनके अनुसार इन विषयों की शोध-पद्धतियाँ प्राकृतिक परिघटनाओं के प्रभावों को दुबारा प्रस्तुत करने की



फ्रांसिस बेकन ( 1561-1626)

क्षमता के बजाय क्षणिक अंतर्दृष्टि पर टिकी होती हैं। बेकन अपनी इस विहंगम आलोचना में तत्कालीन तकनीकी साहित्य पर भी नज़र डालते हैं। उनका कहना है कि यह साहित्य प्रकृति को नयी दृष्टि से नहीं देख पाता।

ध्यान से देखें तो बेकन वैज्ञानिक ज्ञान की जिस अवधारणा का प्रतिपादन करते हैं उसका केंद्रक निगमनमूलक पद्धति, पदार्थ के अव्यक्त रूप तथा कर्ता या सृजक के ज्ञान जैसे तीन तत्त्वों से मिल कर बना है। पदार्थ के अव्यक्त या अप्रकट रूप का विचार एक प्राचीन प्रत्यय है जो इस बात पर जोर देता है कि किसी वस्तु का रूप ही उसकी वास्तविक प्रकृति को व्यक्त करता है। पदार्थ के रूपों से बेकन का आशय उसके घटकों से है जो संख्या में तो सीमित होते हैं लेकिन एक दूसरे से संयोजित होकर अनंत रूपों की रचना कर सकते हैं। बेकन की यह परियोजना पदार्थ के रूपों को कुछ इस तरह साधने पर जोर देती है कि उन्हें प्रयोग की सही विधि के ज़रिये कार्यकारी या उपयोगी बनाया जा सके। यही वजह है कि बेकन नैचुरल फ़िलॉसफ़ी को कारणों की पड़ताल तथा प्रभाव का पुनरुत्पादन कहते हैं। लेकिन ज्ञान की आधुनिक अवधारणाओं में प्रशिक्षित व्यक्ति को बेकन की यह परियोजना उस समय संदिग्ध लगने लगती है जब वे यह कहते हैं कि पदार्थ के अव्यक्त रूपों तथा कर्ता का ज्ञान असल में उस योजना में अनुषंग की तरह काम करते हैं जिसका लक्ष्य विचारों का संवर्धन करके वस्तुओं और मनुष्यों को इच्छित या अपेक्षित कराने के लिए तैयार करना होता है।

स्पष्ट है कि वस्तुओं को मनाने का खयाल किसी आध्यात्मिक सत्ता की ओर इंगित करता है। असल में बेकन यह मान कर चलते हैं कि वस्तुओं तथा मनुष्यों की प्रकृति में एक आध्यात्मिक तत्त्व निहित होता है इसलिए ज्ञान की नयी व्यवस्था में प्रयोग का अभिप्राय केवल किसी चीज के उद्घाटन तक सीमित न होकर उस वस्तु की वास्तविक प्रकृति का परीक्षण भी बन जाता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अंततः सारे प्रयोग इस पूर्व-प्रदत्त दुनिया के पदार्थ और चेतना पर ही किये जाते हैं जिनमें मनुष्य का मस्तिष्क और उसकी भावनाएँ भी शामिल हैं।

बेकन दुनिया को जिस धर्मवादी नज़रिये से देखते हैं उसमें दुनिया का स्रष्टा इस दुनिया को प्रकट के बजाय गूढ़ तरीकों से संचालित करता है। बेकन के मुताबिक जीव-जगत, वनस्पति तथा पदार्थों के सपाट सत्य के पीछे कूट, ग्रंथिल और अस्पष्ट अर्थ मौजूद रहते हैं। वैज्ञानिक का काम इन बाहरी लक्षणों के परे जाकर चीजों के गहरे और गुप्त अर्थों का उद्घाटन करना होता है।

विद्वानों का मानना है कि बेकन अपने कई निबंधों में जब प्रशासनिक अधिकारियों और राजनीतिज्ञों को प्रकृति पर नियंत्रण करने या उसे मनुष्य के लिए उपयोगी बनाने की सलाह देते हैं तो उनकी मंशा उन लोगों को केवल निजी स्वार्थ के प्रति सचेत करने की नहीं होती। बेकन स्वार्थपूर्ति के साथ ही प्रकृति में अंतस्थ गहरे निर्देशों का पालन करने की बात भी करते हैं। इसलिए कई अध्येताओं का मानना है कि अपने निबंधों के ज़रिये बेकन ऐसे लोगों को परामर्श देते प्रतीत होते हैं।

बेकन कहते हैं कि जैसे प्रकृति को निर्देशित करने की इच्छा में उसकी आज्ञाओं का पालन पूर्वनिहित है उसी तरह चिंतन के दौरान जो चीज कारण की तरह दिखायी देती है उसमें व्यावहारिक नियम बनने की सामर्थ्य भी होनी चाहिए। उनकी इस निष्पत्ति का आशय यह है कि व्यक्ति प्रकृति के भौतिक तत्त्वों और उसकी शक्तियों को इच्छित रूप तभी दे सकता है जब वह प्रकृति की अप्रकट और गहरी संरचना को समझ चुका हो। इस तरह सैद्धांतिक चिंतन का सत्य व्यावहारिक रूपों के निर्माण करने वाले नियमों से अनुशासित होना चाहिए। बेकन का मानना है कि प्रकृति के इन अप्रकट रूपों के बुनियादी सिद्धांत का उल्लंघन करना विनाशकारी होता है। यांत्रिक तकनीकों के साथ असावधानी बरतना और उनके साथ मूर्खतापूर्ण छेड़छाड़ करना मनुष्य के लिए अकल्पित विपत्ति भी खड़ी कर सकता है।

बेकन प्रयोगों में निहित खतरों के बावजूद प्रयोगशीलता को मनुष्य की भौतिक प्रगति के लिए लाजमी

मानते हैं। वैज्ञानिक प्रयोगों के मानवीय फलितार्थों पर केंद्रित उनकी रचना *न्यू अटलांटिस* को एक तरह का वैज्ञानिक यूटोपिया कहा जा सकता है। इस रचना में बेकन युरोपीय जहाजियों की रूपक कथा के जरिये एक ऐसी दुनिया को दर्शाते हैं जहां वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा जीवन के परिचित रूपों का रूपांतरण किया जा रहा है। सोलोमन के घर में इन यात्रियों का साबका एक ऐसी प्रयोगशाला से होता है जिसमें पक्षियों और पेड़-पौधों को आनुवंशिकी की तकनीकी से नयी प्रजातियों में बदला जा रहा है; नये ढंग के अस्त्र-शस्त्र बनाये जा रहे हैं, मनुष्य के उपभोग के लिए नयी मशीनें गढ़ी जा रही हैं तथा मनुष्य के व्यवहार को निर्देशित करने के लिए वैचारिक तरकीबों की तजवीज की जा रही है। कहना न होगा कि सोलोमन की यह प्रयोगशाला असल में बेकन की प्रायोगिक चेतना का भी रूपक है।

समग्रतः देखें तो एक चिंतक के रूप में बेकन की शिखरयुत स्तुतिगान और परम आलोचना के बीच फँसी है। थॉमस स्प्रेट ने उनकी वैचारिक क्षमताओं और दृष्टि की तुलना ईश्वर से की है जिसके निर्देशों को दैवी विधान की जगह भी रखा जा सकता है। फ्रांस में जब ज्ञानोदय से प्रेरित चिंतन अपने चरम पर था तो बेकन को सबसे महान, सार्वभौम और मुखर दार्शनिक बताया जा रहा था। इसी तरह जब तर्क-विज्ञान का विश्वकोश तैयार करने की बारी आयी तो बेकन की कृति *एडवांसमेंट ऑफ लर्निंग* को ही मॉडल माना गया। लेकिन जोनाथन स्विफ्ट की रचना *गुलिवर्स ट्रैवल* में बेकन की वैज्ञानिक प्रयोगशीलता का मर्मांतक उपहास किया गया। उन्नीसवीं सदी में वैज्ञानिक विचारों के इतिहास में बेकन का वैज्ञानिक चिंतन इस आधार पर कमतर माना गया क्योंकि उन्होंने भौतिक नियमों के प्रतिपादन में गणित को महत्त्व नहीं दिया था। मैकॉले ने उन्हें प्रगति का पुरोधा करार दिया लेकिन साथ ही उन्हें ऐसा निंदनीय व्यक्ति भी बताया जो निजी स्वार्थों, शाही तमगों और रंगरुतबे के लिए अपने निकट मित्रों के साथ भी छल कर सकता था।

इसी तरह होर्खाइमर और एडोर्नो बेकन को पूँजीवादी राज्य का एक ऐसा सिपहसालार बताते हैं जिसने बुद्धि-विवेक की मशीनी समझ से प्रेरित होकर मनुष्य के खिलाफ़ खड़ी दमन और उत्पीड़न की व्यवस्था को वैधता दिलाने का जुर्म किया है। लेकिन इन ध्रुवांतों के बीच बेकन के पक्ष में एक संतुलित मत यह भी पेश किया जाता है कि उनका चिंतन वैज्ञानिकता और जादूगरी का मिश्रण था। बेकन मानवीय प्रगति के सीमांतों का विस्तार करना चाहते थे लेकिन अपेक्षित को हासिल करने के लिए उतना ही दाँव पर लगाने के लिए भी तैयार दिखते थे।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-

औपनिवेशिकता, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, जाक लकाँ, ज्याँ-फ्रांस्वा ल्योतर, ज्याँ-पॉल सार्त्र, जाक देरिदा, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीजेनग्रंड एडोर्नो, द्वैतवाद, नवउदारतावाद, परिणामवाद, फ्रेड्रिख नीत्से-1 और 2, बुद्धिवाद, भाववाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यथार्थवाद, युरोपीय पुनर्जागरण, युरगन हैबरमास, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, संत ऑगस्ताइन, सोरेन आबी कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, हरबर्ट स्पेंसर, ज्ञानमीमांसा, ज्ञान का समाजशास्त्र।

### संदर्भ

1. एम. पेलटोनेन (संपा.) (1996), *केम्ब्रिज कम्पैनिन टू बेकन*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. आर.के. फ़ॉकर (1993), *फ़्रांसिस बेकन ऐंड द प्रोजेक्ट ऑफ़ प्रोग्रेस*, रॉमैन ऐंड लिटिलफील्ड, न्यूयॉर्क तथा लंदन.
3. जे.सी. ब्रिग्स (1989), *फ़्रांसिस बेकन ऐंड द रेटोरिक ऑफ़ नेचर*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
4. ए. पेरेज-रामोस (1988), *फ़्रांसिस बेकन आइडिया ऑफ़ साइंस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.

— नरेश गोस्वामी

## फ्रेड्रिख एंगेल्स

(Friedrich Engels)

जर्मन दार्शनिक, राजनीतिक संगठक, कार्ल मार्क्स के अभिन्न मित्र और मार्क्सवाद के दो संस्थापकों में से एक फ्रेड्रिख एंगेल्स (1820-1895) की रचनाओं ने उन्नीसवीं सदी के आखिरी और बीसवीं सदी के शुरुआती दौर में मार्क्सवाद को एक विश्व-दृष्टिकोण के रूप में लोकप्रिय करने में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। उन्होंने न केवल मार्क्स के साथ मिल कर *द होली फैमिली* और *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* जैसी कालजयी रचनाएँ लिखीं, बल्कि मार्क्स का स्वास्थ्य ख़राब होने के बाद पहले इंटरनैशनल के राजनीतिक कामकाज की अधिकतर जिम्मेदारी उठायी। इसी दौरान एंगेल्स ने जर्मन सामाजिक जनवादी पार्टी के भीतर प्रत्यक्षवादी रुझानों से टकराते हुए *ड्यूहरिंग मत-खण्डन* जैसी विवादात्मक कृति रची जो मार्क्सवाद की स्पष्ट, सुगठित और लोकप्रिय व्याख्या के रूप में सारी दुनिया में बड़े पैमाने पर पढ़ी गयी। *ड्यूहरिंग मत-खण्डन* के साथ उनकी एक और रचना *सोशलजिजम : यूटोपियन ऑर साइंटिफिक* को युरोप के उदीयमान



फ्रेड्रिख एंगेल्स (1820-1895)

समाजवादी आंदोलन में असाधारण प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। दूसरे इंटरनैशनल के दौरान एक दार्शनिक के रूप में एंगेल्स की ख्याति में और बढ़ोतरी हुई। उनकी रचनाओं *परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति एवं लुडविग फायरबाख* ने उनका सिक्का जमा दिया। मार्क्स के देहांत के बाद उन्होंने अपना अधिकतर समय *कैपिटल* के दूसरे और तीसरे खण्डों के सम्पादन और प्रकाशन में खर्च किया। अपने निधन से पहले वे इस रचना के चौथे खण्ड पर काम कर रहे थे जिसका प्रकाशन बाद में *थियरीज़ ऑफ सरप्लस वैल्यू* के शीर्षक से हुआ। एंगेल्स ने इतिहास और विज्ञान के विकास के बीच द्वंद्वात्मक रिश्ते पर गहरायी से विचार किया जिसका परिणाम *द डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर* जैसी कृति में निकला।

फ्रेड्रिख एंगेल्स का जन्म बैरमेन, लंदन में हुआ था। वे वुपर्टल, वेस्टफेलिया के एक कपड़ा कारखाने के मालिक के सबसे बड़े पुत्र थे। माता-पिता ने उनका लालन-पालन कैल्विनवादी अनुशासन के तहत किया। पिता चाहते थे कि वे कारोबार में ही मन लगायें। लेकिन स्कूल के दिनों से ही एंगेल्स लेखक और साहित्यकार बनने का स्वप्न देखने लगे। सत्रह साल की उम्र तक उनकी कविताएँ छपने लगी थीं और उन्होंने समाज को देखने की आलोचना-दृष्टि विकसित कर ली थी। 1830 के दशक में यंग जर्मनी आंदोलन के साथ जुड़े लेखकों की सोहबत में आये। इन लोगों का रुझान

लोकतांत्रिक-राष्ट्रवादी था। इसके बाद एंगेल्स पर हीगेल का प्रभाव बढ़ता गया। कारोबार में लगने से बचने के लिए वे कुछ समय के लिए फ़ौजी सेवा में शामिल हो गये। 1841 में बर्लिन में वे यंग हीगेलवादियों के समूह में शामिल हो गये। इन लोगों पर ब्रूनो बॉडर का प्रभाव था। इसी दौर में उन्होंने हीगेल की आलोचना करने वाले शेलिंग के खिलाफ छद्म नाम से आक्रामक लेखन किया जो कुछ दिनों के लिए चर्चित रहा।

1839 में एंगेल्स ने 'लेटर फ़ॉम वुपर्टल' में अपने समुदाय के उन मिल मालिकों की तीखी आलोचना की जो खुद को एक अच्छे ईसाई की तरह पेश करते थे, लेकिन वास्तव में मजदूरों द्वारा कमाये गये फ़ायदे को हड़प कर मौज-मजा करते थे। 1839-42 के बीच एंगेल्स ने तक्ररीबन 50 छोटे-छोटे लेख प्रकाशित किये। इनमें उन्होंने बर्लिन विश्वविद्यालय के इर्द-गिर्द होने वाले दर्शन, राजनीति और धर्म की विषय-वस्तुओं पर होने वाले उदारवादी-अनुदारवादी वाद-विवाद का विवरण दिया। 1842 की सर्दियों में एंगेल्स मैनचेस्टर में अपने पिता का कारोबार सँभालने के लिए इंग्लैण्ड चले गये। मोसेस हेस के प्रभाव के कारण वे पहले से ही एक कम्युनिस्ट बन चुके थे। हेस की रचना *युरोपीयन ट्रियारकी* से प्रभावित हो कर वे तब तक यह मानने लगे थे कि इंग्लैण्ड में सामाजिक क्रांति होना तय है। तक्ररीबन दो साल तक टेक्सटाइल जिले में रहने के दौरान वे राबर्ट ओवेन के समर्थकों और चार्टिस्टों के सम्पर्क में आये। इस प्रक्रिया में एंगेल्स के विचारों पर बेउर का प्रभाव खत्म हो गया था।

1845 में उनकी रचना *कंडीशन ऑफ द वर्किंग क्लास इन ब्रिटेन* प्रकाशित हुई। इस रचना से स्पष्ट होता है कि उन्हें औद्योगिक क्रांति के गर्भ से निकलने वाली श्रमिक वर्ग के रूप में एक बिल्कुल ही नयी क्रिस्म की शक्ति दिखाई देने लगी थी। उन्हें यह भी लगने लगा था कि यह वर्ग क्रांतिकारी बदलाव में केंद्रीय भूमिका निभायेगा। यह पुस्तक लिखने और इंग्लैण्ड छोड़ने के बीच एंगेल्स और मार्क्स के बीच पहली गम्भीर बातचीत हुई। उन्होंने महसूस किया कि बेउर और उनके समर्थकों के बारे में उनके और मार्क्स के विचार काफी मिलते-जुलते हैं। इसके अलावा जर्मनी के बाहर श्रमिक वर्ग के आंदोलन के महत्त्व के बारे में भी वे काफी हद तक सहमत थे। इसलिए उन्होंने मिल कर एक किताब लिखने का फैसला किया। यही किताब *द होली फ़ैमिली* (1845) शीर्षक से प्रकाशित हुई। इसके बाद मार्क्स के संग उनके एक ऐसे साथ की शुरुआत हुई जो जिंदगी भर क्रायम रहा। इस दौरान मार्क्स और एंगेल्स जिस साम्यवाद की पैरोकारी कर रहे थे वह फ़ायरबाख के भौतिकवाद से बहुत प्रभावित था, पर उस समय ये दोनों चिंतक तुलनात्मक रूप से श्रमिक वर्ग और राजनीति को कहीं ज़्यादा अहमियत दे रहे थे।

1845 में मार्क्स ने फ़ायरबाख और यंग हीगेलियनों के

बारे में अपने विचारों को स्पष्ट किया। यहीं से इतिहास की एक विशिष्ट मार्क्सवादी संकल्पना की शुरुआत मानी जाती है। खुद एंगेल्स द्वारा दिये गये विवरणों के अनुसार इस प्रक्रिया में उनकी भूमिका दायम दर्जे की थी। लेकिन एंगेल्स द्वारा राजनीतिक अर्थशास्त्र, इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति तथा वर्ग-चेतना पर किये गये कामों ने मार्क्स की पूरी सैद्धांतिक संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसके अलावा एंगेल्स ने मार्क्स के साथ मिल कर *द जर्मन आइडियोलॉजी* जैसी असमाप्त कृति भी रची। यह 1845 से 1846 के मध्य लिखी गयी यह रचना सबसे पहले अपने पूरे रूप में 1932 में जा कर प्रकाशित हुई।

1845 से 1850 के बीच में एंगेल्स और मार्क्स ब्रुसेल्स और पेरिस में सघन राजनीतिक कार्रवाइयों और बौद्धिक उत्पादन में लगे रहे। उनकी कोशिश यह थी कि न केवल जर्मन कम्युनिस्ट उनके विचारों से सहमत हो जाएँ, बल्कि दुनिया भर में होने वाले मजदूर आंदोलनों को एक मुश्तरका मंच पर ले आया जाए। इसी प्रक्रिया में एंगेल्स मार्क्स के साथ जर्मन लीग के सदस्य हो गये जिसका नामकरण कम्युनिस्ट लीग कर दिया गया। इसी संस्था के लिए इन दोनों विद्वानों ने 1848 की क्रांति की पूर्व-संध्या पर *कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो* रचा। 1849 में एंगेल्स ने प्रति-क्रांति के खिलाफ होने वाले सशस्त्र प्रतिरोध में सक्रिय भाग लिया। इस दौर के अनुभवों की बौद्धिक व्याख्या *रेवोल्यूशन ऐंड क्राउंटर-रेवोल्यूशन इन जर्मनी* में दर्ज है। पचास के दशक में ही एंगेल्स की रचना *द पेजेंट वार इन जर्मनी* प्रकाशित हुई।

1850 कम्युनिस्ट लीग के बिखर जाने के बाद एंगेल्स फिर मैचेस्टर जा कर अपना पारिवारिक व्यवसाय देखने लगे। अगले बीस साल तक वे वहीं रहे। इस दौरान उन्होंने भीषण गरीबी से संघर्ष कर रहे मार्क्स के परिवार की लगातार सहायता की और उनके प्रमुख राजनीतिक और बौद्धिक साथी की भूमिका निभायी। इन दोनों विद्वानों ने मिल कर विविध विषयों पर कलम चलायी और विशद साहित्य रचा।

दुनिया भर के समाजवादी आंदोलन में मार्क्सवाद को स्थापित करने में एंगेल्स की रचनाओं का बहुत योगदान है। 1914 से पहले समाजवादियों के बीच एंगेल्स के वैचारिक प्राधिकार का काफ़ी सम्मान होता था। पर उसके बाद पश्चिमी समाजवादियों ने उनके विचारों की आलोचना शुरू कर दी। उन्होंने आरोप लगाया कि एंगेल्स पर प्रत्यक्षवाद की छाप कुछ ज्यादा ही है और वे मार्क्स के विचारों में संशोधन भी करते हैं। दूसरी तरफ बोल्शेविक क्रांति के बाद सोवियत संघ ने एंगेल्स की रचनाओं के प्रकट विज्ञानवादी रुझानों को उत्साह के साथ अपनाया और मार्क्सवाद के आधिकारिक सोवियत संस्करण के रूप में द्वंद्वत्मक भौतिकवाद के दर्शन को खड़ा कर दिया।

देखें : अर्नेस्टो चे ग्वेवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1, 2, 3 और 4, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से लेकर 9 तक,, निष्क्रिय क्रांति, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, कम्युनिस्ट पार्टियाँ-1, 2 और 3, भारतीय इतिहास लेखन-4 और 5, भाषा का मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, बोल्शेविक क्रांति, फ्रांस्वा-चार्ल्स मारी फूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1, 2, 3, 4 और 5, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, समाजवादी वसंत-1, 2, 3, और 4, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबेरेशन थियोलॉजी, सांस्कृतिक क्रांति, स्टालिन और स्टालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1, 2 और 3, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, वर्ग और वर्ग-संघर्ष, व्लादिमिर इलिच लेनिन।

### संदर्भ

1. टैरेल कारवेर (1983), *मार्क्स ऐंड एंगेल्स : इंटलेक्चुअल रिलेशनशिप*, ब्राइटन, ससेक्स.
2. डब्ल्यू.ओ. हेंडरसन (1976), *द लाइफ ऑफ फ्रेड्रिख एंगेल्स*, दो खण्ड, कैस, लंदन.
3. डी. मैकलेलन (1977), *एंगेल्स*, फोंटाना, ग्लासगो.
4. कार्ल मार्क्स और फ्रेड्रिख एंगेल्स (1962), *सिलेक्टड वर्क्स*, दो खण्ड, विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मास्को.

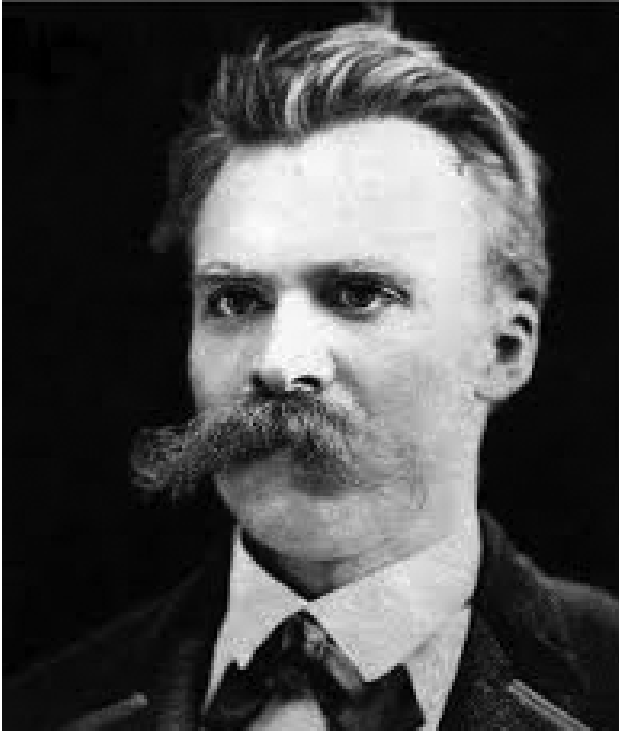
— कमल नयन चौबे

## फ्रेड्रिख नीत्से-1

(द बर्थ ऑफ ट्रेजडी)

(Friedrich Nietzsche-1)

जर्मन दार्शनिक, संज्ञीतज्ञ और धर्म-संस्कृति के अध्येता फ्रेड्रिख विल्हेल्म नीत्से (1844-1900) का कृतित्व स्थापित नैतिक मान्यताओं के प्रतिरोध, सभ्यता-संस्कृति के उत्कर्ष संबंधी चिंतन तथा आदर्शों को झुठलाती सत्ताकांक्षा के आदिम आवेगों की पड़ताल का एक विराट बीहड़ है। नीत्से उन समस्त सिद्धांतों को गहरायी में जाकर प्रश्नांकित करते हैं जिन्हें समाज और व्यक्ति के लिए आदर्श की तरह बयान किया जाता है लेकिन जो दरअसल जीवन की ऊर्जा को उलीच कर खत्म कर देते हैं। नीत्से उन विरले चिंतकों में शुमार किये जाते हैं जो अपनी मृत्यु के बाद लगातार प्रासंगिक होते गये हैं। बीसवीं सदी में सांस्कृतिक अध्ययन, साहित्य, दर्शन, कला, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा क्रांति— शायद ही कोई क्षेत्र ऐसा हो जहाँ नीत्से का संदर्भ ज़रूरी मालूम न पड़ता



फ्रेड्रिख नीत्से (1844-1900)

हो। उन्हें एक मूलगामी चिंतक इसलिए माना जाता है क्योंकि वे मनुष्य के अस्तित्व की संरचनागत जकड़नों और उनसे मुक्ति के रास्ते तलाश करते हैं। पर नीत्से रहस्यवादी नहीं हैं।

फ्रेड्रिख नीत्से का जन्म जर्मनी में लाइपज़िग के पास 1844 में हुआ था। उनकी पढ़ाई पहले तो विख्यात फोर्ट स्कूल में हुई और उसके बाद उन्होंने बॉन और लाइपज़िग विश्वविद्यालयों में क्लासिकल फ़िलॉसफ़ी का अध्ययन किया जहाँ शॉपेनहॉर के दर्शन से वे काफी प्रभावित हुए। 1869 में 24 साल की आयु में नीत्से को स्विट्ज़रलैंड के बेसिल विश्वविद्यालय में नियुक्ति मिली और साल भर बाद ही वे क्लासिकल फ़िलॉसफ़ी के प्रोफ़ेसर बना दिये गये। लेकिन स्वास्थ्य संबंधी परेशानियों के कारण उन्हें 1879 में यह नौकरी छोड़नी पड़ी। नीत्से ने अपना बाक़ी जीवन विश्वविद्यालय की पेंशन पर गुज़ारा। दस साल बाद उन्हें ज़बरदस्त मस्तिष्काघात का सामना करना पड़ा जिसके कारण वे असहाय विकलांग हो गये। इस हालत में नीत्से की देखभाल पहले उनकी माँ ने और फिर बहिन ने की। ग्यारह साल तक इसी हालत में रहने के बाद 1900 में उनका देहांत हुआ। नीत्से केवल 56 वर्ष जीवित रहे। इस अवधि में 1872 से 1888 तक के सोलह साल के दौर में ही उन्होंने अपना ज़्यादातर लेखन किया।

नीत्से के कृतित्व को उनके अध्येता दो चरणों में बाँट कर देखते हैं। उनकी सृजनशीलता का एक काल वह है जिसमें उन्होंने विश्वविद्यालय की अनुशासनगत सीमाओं में

रह कर काम किया। तो दूसरा काल वह है जब नीत्से ख़राब स्वास्थ्य के कारण अंततः विश्वविद्यालय के जीवन से विदा लेकर अनथक यायावर बन गये। रचनात्मक जीवन के इस दूसरे हिस्से में नीत्से ने ख़ानाबदोशी की जीवन जिया। उन्होंने जर्मनी की नागरिकता त्याग दी। स्विट्ज़रलैंड में भी वे ज़्यादा नहीं टिके। विशेषज्ञों का मानना है कि कृतित्व के इस चरण में नीत्से की दार्शनिक शैली में एक अभूतपूर्व बदलाव आता है। नीत्से की पहली पुस्तक *द बर्थ ऑफ़ ट्रेजडी : आउट ऑफ़ द स्पिरिट ऑफ़ म्यूज़िक* 1872 में प्रकाशित हुई थी। प्रकाशन के चौदह साल बाद इस पुस्तक का दूसरा संस्करण जारी किया गया और उसका शीर्षक भी बदल दिया गया। नीत्से की यह पुस्तक अट्टारहवीं और उन्नीसवीं सदी में यूनानी संस्कृति की उस प्रचलित छवि का खण्डन करती है जो जोहान विंकलमैन जैसे कला इतिहासकारों की बदौलत युरोप में सांस्कृतिक औदात्य के आदर्श की तरह स्थापित हो गयी थी। इस पुस्तक की तैयारी से पहले ही नीत्से जर्मन दार्शनिक शोपेनहॉर की इस विश्वदृष्टि को गहरायी से आत्मसात कर चुके थे कि सर्जनात्मकता और यथार्थ के मूल में ऐसी शक्ति व्याप्त होती है जिसे मानवीय विवेक के संदर्भ में नहीं आँका जा सकता।

शोपेनहॉर की तरह नीत्से भी सुकरात से पहले की यूनानी संस्कृति को डायोनिशियन शक्ति के उद्दाम आवेग का सर्जनात्मक विस्फोट मानते हैं। पश्चिमी संस्कृति के इतिहास का सिंहावलोकन करते हुए नीत्से अफ़सोस ज़ाहिर करते हैं कि यूनान के पराभव के बाद डायोनिशियस की शुभ शक्ति पर अपोलो की तार्किक व दम्भी गम्भीरता हावी हो गयी। नीत्से इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सुकरात के बाद युरोपीय संस्कृति अपोलोयिआई दुष्प्रभाव के कारण एकांगी, निर्जीव और अस्वस्थ हो गयी है। इस संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए नीत्से कला की डायोनिशियाई शक्तियों का आह्वान करना ज़रूरी मानते हैं। नीत्से इस उर्जा को आदिम सर्जनात्मकता, अस्तित्व के आनंद और परम सत्य का पर्याय कहते हैं और संस्कृति के जीर्णोद्धार के इस सूत्र को समकालीन संगीतज्ञों—बाख, बीथोवेन और वैगनर आदि की रचनाओं में लक्षित करते हैं। यह किताब जर्मन संगीत और त्रासदी के तत्त्व को युरोपीय संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए रामबाण की तरह पेश करती है। विद्वानों के अनुसार नीत्से की यह पहली पुस्तक शाश्वत अंदाज़ में बात करती है। जिसे बहुत से विद्वान नीत्से के लेखन का स्थायी आयाम मानते हैं।

कई विद्वान नीत्से के एक अप्रकाशित निबंध *ऑन टूथ ऐंड लाइज़ इन अ नॉर्मल सेंस* को उनके चिंतन का बीज-वाक्य मानते हैं। इस लेख में नीत्से का प्रतिमाभंजक व्यक्तित्व सामने आता है। प्रस्तुत लेख में नीत्से अतिवादी रवैया अपनाते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि दुनिया में सार्वभौम सच्चाई जैसी कोई स्थिति नहीं होती। मनुष्य जिसे सत्य कहता है वह

रूपकों, अलंकारों और अनुभवों के मानवीकरण के अलावा कुछ नहीं होता। उनके अनुसार मनुष्य का अनुभव हमेशा एक स्वेच्छाचारिता से आक्रांत रहता है। सत्य की लौकिकता पर जोर देते हुए नीत्से यह भी आग्रह करते हैं कि सत्य स्थिरता, सुरक्षा और निरंतरता हासिल करने के लिए कुछ स्थायी परम्पराओं या रूढ़ियों के निर्माण की व्यावहारिक क्रवायद से ज्यादा कुछ नहीं है। मनुष्य के अनुभव को अस्तित्व के समग्र बोध में रखते हुए नीत्से यह कहने में भी नहीं हिचकते कि मनुष्य के आगमन से पहले एक शाश्वतता व्याप्त थी और यह मनुष्य से इतनी निरपेक्ष है कि अगर मनुष्यता का अस्तित्व खत्म हो जाए तो भी सृष्टि की इस विराट योजना पर कोई खास फ़र्क नहीं पड़ेगा।

स्थापित मान्यताओं को प्रश्नांकित करने के क्रम में *अनफ़ैशनेबल आब्जर्वेशंस* नीत्से की एक महत्वपूर्ण रचना है। उनकी यह कृति अपने दौर के सांस्कृतिक व्यक्तित्वों और मसलों की तह में जाकर संस्कृति की आत्ममुग्ध व्याख्या पर हमला बोलती है। गौरतलब है कि नीत्से के समकालीन इतिहासकार डेविड स्ट्रांस ने अपनी किताब *द ओल्ड ऐंड न्यू फ़ेथ : अ कन्फ़ैशन* में आस्था के नये रूप को वैज्ञानिक और सार्वभौम बनाने की वकालत की थी। अपने अध्ययन में नीत्से स्ट्रांस के नज़रिये का खण्डन करते हुए उनके दृष्टिकोण को सांस्कृतिक पतन का परिचायक बताते हैं क्योंकि नीत्से के मुताबिक़ जीवन के सिद्धांत ज्ञान के मुकाबले ज्यादा अहम और उच्चतर होते हैं। नीत्से का जोर इस बात पर था कि ज्ञान की खोज का मक्रसद जीवन को बेहतर बनाना होना चाहिए। इस संदर्भ में यह याद करना मुनासिब होगा कि अपनी पहली रचना *द बर्थ ऑफ़ ट्रेजेडी* में भी नीत्से कला को जीवन की ठोस वास्तविकता से परखने पर जोर देते हैं। इस अध्ययन में नीत्से ने शोपेनहॉर और संगीतज्ञ वैगनर को जर्मन संस्कृति के ज्यादा जीवंत, और प्रेरक प्रतिमान की तरह पेश किया था। इस रचना के आधार पर कई अध्येताओं ने यह बात लक्षित की है कि अपने कृतित्व में नीत्से साल दर साल उदात्त चरित्रों की खोज करते जाते हैं। उनके अनुसार यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो नीत्से के लेखन में समय के साथ लगातार मज़बूत होती जाती है।

नीत्से की अगली रचना *ह्यूमन, ऑल-टू-ह्यूमन* (1878) ने भी संशोधन और परिवर्द्धन के कई चरणों से गुज़र कर अंतिम आकार लिया था। मसलन, प्रकाशन के एक साल बाद नीत्से ने इस पुस्तक में *मिक्स्ट ऑपिनियंस ऐंड मैक्ज़िम्स* नाम से दूसरा तथा उसके एक साल बाद फिर तीसरा खण्ड *द वांडरर ऐंड हिज शैंडो* जोड़ा। तीनों खण्डों को एक साथ समाहित करके अंततः पुस्तक को फिर से एक नया शीर्षक *ह्यूमन, ऑल-टू-ह्यूमन, अ बुक फ़ॉर फ़्री स्पिरिट्स* दिया गया। इस पुस्तक में नीत्से किसी दार्शनिक सरणि का अनुसरण न

करके अभिव्यक्ति की विस्मित कर देने वाली शैली— सूत्र कथन का प्रयोग करते हैं। इन रचनाओं को इस तरह सूत्रों का संग्रह भी कहा जा सकता है। इन्हीं रचनाओं में सत्ता का विचार पहली बार लेकिन अव्यवस्थित रूप में प्रकट होता है। हालाँकि इस अवस्था में नीत्से सत्ता के विचार को सांस्कृतिक व मनोवैज्ञानिक निर्मितियों को समझाने के लिए ज्यादा इस्तेमाल करते हैं। कई विद्वानों का मानना है कि ये रचनाएँ कला के बजाय विज्ञान से ज्यादा प्रेरित हैं जो नीत्से के वैचारिक रुझान को देखते हुए एक असामान्य बात लगती है।

नीत्से की अगली रचना *डेब्रैक : रिफ्लेक्शन ऑन मॉरल प्रेजुडिसिज़* में उनकी सूत्र कथन शैली बरकरार रहती है लेकिन उनके चिंतन में एक नया प्रस्थान बिंदु दिखने लगता है। इस कृति में सत्ता के बढ़ते संदर्भ इस बात की ओर इशारा करते हैं कि नीत्से यहाँ मनुष्य खास कर उसके नैतिक व्यवहार को समझने के लिए सुख की कामना के बजाय सत्ता की भावना को ज्यादा अहमियत देने लगे हैं। यूनान के नागरिकों के अच्छे स्वास्थ्य के कारणों को खोजते हुए वे एगॉन का ज़िक्र करते हैं जिसे प्रतिस्पर्द्धा और शौर्य के अर्थ में लिया जा सकता है। इस मायने में यह रचना उनके विचारोत्तेजक सिद्धांत— सत्ता की आकांक्षा का पूर्वाभास कराती है। यह रचना ईसाइयत की नैतिकता के सांस्कृतिक-मनोवैज्ञानिक पहलुओं की पड़ताल के लिए भी जानी जाती है।

*गे साइंस* सूत्रकथन शैली की एक अन्य चर्चित रचना है जिसमें नीत्से का अस्तित्वादी चिंतन एक नयी उड़ान भरता है। नीत्से ने ईश्वर की मृत्यु जैसी प्रसिद्ध उक्ति और शाश्वत वापसी/रिकरेंस जैसे सिद्धांतों का प्रतिपादन इसी पुस्तक में किया है। शाश्वत वापसी से नीत्से का आशय यह है कि अगर किसी को बार-बार जन्म लेने का मौक़ा मिले तो वह जीवन के सुख-दुख को हर बार उसी तरह जीने की कोशिश करता है। लेकिन इस इच्छा को हकीकत में बदल पाना इस बात पर निर्भर करता है कि संबंधित व्यक्ति मानसिक और शारीरिक दृष्टि से कितना सबल है। इसी रचना में नीत्से ईश्वर की हत्या संबंधी सूत्र के बहाने इस धारणा पर चोट करते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ या सर्वशक्तिमान होता है और इस नाते वह मनुष्य के गूढ़तम रहस्यों का साक्षी या संरक्षक होता है। नीत्से का निरीश्वरवाद असल में एक आह्वान है जो व्यक्ति को पारलौकिकता और पलायन से विमुख कर स्वतंत्रता और मौजूदा दुनिया की ओर प्रणत करने पर जोर देता है। इसी तरह शाश्वत वापसी का मत भी इसी बात की तस्दीक़ करता है कि मौजूदा दुनिया के अलावा ऐसी कोई दुनिया नहीं है जहाँ व्यक्ति पलायन कर सके। व्यक्ति इस संसार की ओर बार-बार इसीलिए लौटता है क्योंकि इसके बाहर या अलावा कोई और दुनिया नहीं है जहाँ वह अंतिम रूप से जा सके। विद्वत जगत में शाश्वत वापसी के विचार को लेकर यह उहापोह रहा

है कि क्या इसके जरिये नीत्शे कोई तत्त्ववादी सिद्धांत गढ़ रहे थे या दुनिया की एक ऐसी खास व्याख्या कर रहे थे जिसे अगर मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य के मिथक के तौर पर स्वीकार कर लिया जाए तो वह मनुष्य को ज्यादा सबल और ताकतवर बना सकता है।

**देखें :** अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इन्द्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, जॉक लर्का, ज्यॉ-फ्रांस्वा ल्योतर, ज्यॉ-पॉल सार्त्र, जॉक देरिदा, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीजेनग्रंड एडोर्नो, द्वैतवाद, नवउदारतावाद, परिणामवाद, फ्रांसिस बेकन, बुद्धिवाद, भाववाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यथार्थवाद, युरोपीय पुनर्जागरण, युरगन हैबरमास, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, संत ऑगस्ताइन, सोरेन आबी कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, हरबर्ट स्पेंसर, ज्ञानमीमांसा, ज्ञान का समाजशास्त्र।

### संदर्भ

1. डेविड ऐलिसन (2000), *रीडिंग द न्यू नीत्शे*, रॉमैन एंड लिटिलफ्रील्ड पब्लिशर्स, लैनहम, मैरीलैंड.
2. मोडेमेरी क्लार्क (1990), *नीत्शे ऑन टूथ एंड फिलॉसफी*, केम्ब्रिज, युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
3. आर्थर सी. दांतो (1965), *नीत्शे एज़ फिलॉसफ़र : ऐन ऑरिजनल स्टडी*, कोलम्बिया युनिवर्सिटी, न्यूयॉर्क.

—नरेश गोस्वामी

## फ्रेड्रिख नीत्शे-2

(दस स्पोक जरथुस्त्र)

(Friedrich Nietzsche-2)

फ्रेड्रिख नीत्शे के समूचे कृतित्व में *दस स्पोक जरथुस्त्र*, अ बुक फॉर ऑल एंड नन सबसे प्रसिद्ध रचना मानी जाती है। खुद नीत्शे भी इसे अपनी रचनाओं में सबसे उल्लेखनीय कृति मानते थे। पहले विश्व-युद्ध के समय जर्मन सरकार ने युद्ध के मोर्चे पर जा रहे सैनिकों की हौसलाअफ़जाई करने के लिए इस किताब की डेढ़ लाख प्रतियाँ छपवायी थीं। हालाँकि अपनी संकल्पना में यह रचना यहूदी व ईसाइयत के विश्व-दृष्टिकोण का खण्डन करती है परंतु अपनी काव्यात्मक और भविष्य कथन की शैली तथा ओल्ड व न्यू टेस्टामेंट के उद्धरणों के कारण जर्मन नेतृत्व इसमें अपनी विस्तारवादी

आकांक्षाओं का अक्स देख रहा था। नीत्शे ने इस कृति में प्रकृति के रूपकों जैसे पृथ्वी, अग्नि, बरखा के दैवी रूपों के पेड़-पौधों को जरथुस्त्र के आध्यात्मिक विकास का अवलम्ब बनाया है।

जरथुस्त्र को नीत्शे ने एक एकाकी, अंतर्मुखी, ध्यानस्थ, ऋषि तुल्य व्यक्तित्व के रूप में दर्शाया है जो अपनी इच्छा के बल पर अपने आत्म पर विजय हासिल करता है। विद्वानों के अनुसार जरथुस्त्र की यह कल्पना मनुष्य की आम सांसारिक स्थितियों का अतिक्रमण करने वाले हिम्मतवर और मज़बूत व्यक्तित्व की ओर इंगित करती है। मनुष्यता की इस उच्चतर अवस्था को नीत्शे सुपरह्यूमन कहते हैं। ध्यान से देखें तो नीत्शे की शाश्वत वापसी और सुपरह्यूमन की अवधारणाएँ एक दूसरे से जुड़ी हैं। उन दोनों को साथ रखकर देखें तो नीत्शे का आशय यह बनता है कि लौकिक संसार में बार-बार ऐसा ही व्यक्ति लौटना चाहता है जो मनोवैज्ञानिक और शारीरिक रूप से दुरुस्त होने के साथ जीवन को उसकी सम्पूर्णता में चाहता हो। लिहाज़ा सुपरह्यूमन वही हो सकता है जो जीवन की आमफ़हम परिस्थितियों और कमज़ोरियों से टकराने का जीवत रखता हो और साथ ही उन्हें ऐसे माध्यम के रूप में देखता हो जिनसे गुज़र कर उसे पूर्णता तक पहुँचना है। इस तरह *दस स्पोक जरथुस्त्र* को व्यक्ति के आत्म-संशय और कमज़ोरियों से उबरने का विश्लेषण भी कहा जा सकता है।

लेकिन तमाम लोकप्रियता और प्रसिद्धि के बावजूद नीत्शे की इस रचना को अनेक विद्वान उनके समूचे कृतित्व में सबसे खटकने वाली कृति मानते हैं। साहित्यिक शैली की प्रधानता के कारण कई लोग इसे दार्शनिक चिंतन की श्रेणी में रखने से गुरेज़ भी करते हैं। नीत्शे यहाँ उक्तियों और छोटे छोटे वृत्तांतों के जरिये बात कहते हैं और साहित्यिक रचनाओं की तर्ज़ पर कई चरित्र गढ़ते हैं। नीत्शे के सुपरह्यूमन की अवधारणा को लेकर ये क्रयास भी लगाये जाते रहे हैं कि क्या दुनिया के भविष्य के इस प्रतीक को नीत्शे के समग्र चिंतन का बुनियादी सूत्र माना जा सकता है।

नीत्शे के चिंतन का एक विलक्षण पक्ष यह भी है कि वे शास्त्रोक्त मान्यताओं और अवधारणाओं पर जीवन की ठोस परिस्थितियों के कोण से विचार करते हैं। नीत्शे की यह प्रवृत्ति उनकी रचना *बियांड गुड एंड ईविल*, *प्रिल्यूड टू अ फिलॉसफी ऑफ़ द फ़्यूचर* में सबसे मुखर रूप में प्रकट होती जहाँ वे अच्छाई और बुराई की शाश्वत मान्यताओं से परे जाकर शोषण, वर्चस्व, निर्बल के प्रति अन्याय, ध्वंस और दूसरों पर आधिपत्य जमाने जैसी प्रवृत्तियों में निहित नैतिकता को सार्वभौमिक रूप से आपत्तिजनक व्यवहार मानने से इनकार करते हैं। नीत्शे का मानना है कि दुनिया में हर जीवित



प्राणी अपनी भीतरी ऊर्जा और सत्ता की आकांक्षा अभिव्यक्त करना चाहता है। और इस प्रक्रिया में उसके लिए खतरा, दुख, झूठ, छद्म और सच्चाई से बचने के लिए छलपूर्ण व्यवहार मायने नहीं रखता। नीत्से इस आकांक्षा को भीतरी खालीपन, अभाव का अहसास या संतुष्टि पाने की अंतहीन इच्छा नहीं मानते। नीत्से के चिंतन में यह आकांक्षा ऊर्जा या सत्ता के एक ऐसे स्रोत से पैदा होती है जो निरंतर बढ़ता जाता है।

सामाजिक मान्यताओं को जीवन के ठोस परिप्रेक्ष्य में जमाकर देखने के कारण नीत्से यह भी स्वीकार नहीं करते कि नैतिकता का कोई ढाँचा इतना सार्वभौम भी हो सकता है कि उसे सभी लोगों पर समान रूप से लागू किया जा सके। इसलिए नीत्से एक आरोही क्रिस्म की नैतिकता प्रस्तावित करते हैं। जिसका मतलब यह है कि निम्नवर्ग के लिए अलग तरह की नैतिकता होनी चाहिए और कुलीन वर्ग के लिए अलग। उनके अनुसार कुछ खास तरह की नैतिकताएँ निम्न वर्ग के लिए ज्यादा उचित होती हैं और कुछ ऐसे ताकतवर लोगों पर ज्यादा फ़िट बैठती है जो समाज का नेतृत्व करते हैं। लिहाज़ा व्यवहार का औचित्य व्यक्ति की स्थिति के हिसाब से तय किया जाना चाहिए। यानी औचित्य का निर्धारण इस आधार पर किया जाना चाहिए कि संबंधित व्यक्ति कमजोर, बीमार और पतनशील है या कि मज़बूत, ताकतवर और जीवन की ऊर्जा से भरा है।

नैतिकता के इस विमर्श को नीत्से अपनी एक अन्य रचना *ऑन जीनियल्लेंजी ऑफ़ मॉरल्स* में भी जारी रखते हैं। यहाँ वे इसे स्वामी और दास की नैतिकता के रूप में पेश करते हैं। ईसाइयत की नैतिकता पर विचार करते हुए नीत्से यह प्रतिपादित करते हैं कि ईसाइयत के वे पारम्परिक आदर्श जिन्हें कथित तौर पर पवित्र या नैतिक रूप से अनुकरणीय बताया गया है; असल में एक तरह की आत्म-प्रवंचना से उपजे हैं। उनके मुताबिक़ ऐसे तमाम आदर्श प्रतिशोध, क्षोभ, घृणा, नपुंसकता तथा कायरता के माहौल से पैदा हुए थे। नीत्से अपराध-बोध की भावना को भी ईसाइयत की नैतिक रुग्णता का परिणाम मानते हैं क्योंकि वह मनुष्य के प्राकृतिक रुझान को सीधे स्वीकार नहीं करती। ईसाइयत की नैतिक वर्जनाओं पर नीत्से ने अपनी रचना *द एंटी क्राइस्ट, कर्स ऑन क्रिश्चियनिटी* में भी प्रहार किया। इस रचना में वे रोमन समाज के उदात्त मूल्यों के विनाश के लिए ईसाइयत को ज़िम्मेदार मानते हैं। इस क्रम में नीत्से ईसाई धर्म के पवित्र उपदेशों, धर्मयुद्धों, पॉल, पादरियों आदि का उल्लेख करते हुए टिप्पणी करते हैं कि ईसाइयत कमजोर और बीमार लोगों का धर्म है जिसने अपने ऐतिहासिक प्रभाव के कारण अपने से उच्चतर और स्वस्थ संस्कृतियों का नाश कर दिया है।

नीत्से दण्ड व्यवस्था को भी महाजन और कर्ज़दार के

आर्थिक संबंध का सामाजिक प्रतिफलन मानते हैं। उनका यह प्रतिमाभंजक रवैया पादरी वर्ग को भी नहीं बख़्शाता। नीत्से के अनुसार सत्य के मार्ग पर चलने वाले पादरी वास्तव में कमजोर व्यक्तित्व वाले लोग होते हैं जो अपने से कमजोर लोगों पर आधिपत्य जमाकर अपनी सत्ताकांक्षा की पूर्ति करते हैं। इस रचना के तीसरे निबंध में नीत्से ईश्वर के अस्तित्व को पूरी तरह नकार देते हैं। उनका कहना है कि विश्व में ऐसी कोई परम सत्ता नहीं है जिसकी बुनियाद पर अस्तित्व की समग्रता को चिह्नित किया जा सके। नीत्से केवल आत्मविश्वास, स्वयं-संचालित, सर्जनात्मक और नेतृत्वकारी रवैये से पैदा होने वाले मूल्यों को ही श्रेयस्कर मानते हैं। उन्हें ताकतवर वर्ग की प्रतिक्रिया में पैदा होने वाले मूल्य हेय और यांत्रिक लगते हैं।

नीत्से के चिंतन और सरोकारों पर एकमुश्त ढंग से विचार करें तो नीत्से एक प्रतिमाभंजक और प्रतिष्ठान विरोधी दार्शनिक हैं। वे सामाजिक जीवन, इतिहास, धर्म और शास्त्रों की स्थापित मान्यताओं को स्वीकार नहीं करते। उनके चिंतन और व्यक्तित्व का यह पहलू बीसवीं सदी के उन अवांगार्द कलाकारों के लिए एक बड़ा प्रेरक तत्व था जो समाज की प्रचलित मान्यताओं और मूल्यों के बरक्स खुद को हाशिये पर पाते थे। कई विद्वानों का मत है कि नीत्से का सहज और प्राकृतिक माने जाने वाले मूल्यों को पशुवत् आवेगों से जोड़कर देखना फ़ॉयड के मनोविश्लेषण को एक शुरुआती ज़मीन मुहैया कराता है। नीत्से के कृतित्व की एक प्रायोजित विडम्बना यह भी थी कि नाज़ीवाद और फ़्रासीवाद के पैरोकारों ने उनके लेखन से कई ऐसे अंशों को चुना जिनसे युद्ध, आक्रामकता और विरोधियों के दमन, राष्ट्रवादी और जातीय श्रेष्ठता के दुराग्रहों को बल मिलता था। लेकिन ऐसा इसलिए हो पाया, क्योंकि नीत्से की बहन खुद नाज़ीवाद से सहमत रखती थी और नीत्से की विक्षिप्तता के दौर में वह उनकी संरक्षक रही थी। साठवें दशक के बाद नीत्से की प्रतिष्ठान विरोधी चेतना, दर्शन को जीवन की व्यावहारिक वास्तविकताओं से संदर्भित करने के आग्रह, सत्ताकांक्षा के सूत्रीकरण तथा ईश्वर की मृत्यु जैसे वक्तव्यों ने फ़्रांस में समाज-विज्ञानियों की एक पूरी पीढ़ी को प्रभावित किया है। अंग्रेज़ीभाषी देशों में नीत्से को एक लम्बे समय तक नाज़ीवाद का समर्थक माना जाता रहा। लिहाज़ा उनके कृतित्व पर किसी ने गम्भीर चिंतन की जहमत नहीं उठायी। लेकिन सौभाग्य से पाँचवें और छठे दशक में वाल्टर कॉफ़मैन और आर्थर दांतो जैसे विद्वानों ने नीत्से से जुड़े ऐतिहासिक संदर्भों को दुरुस्त करते हुए उन्हें अंग्रेज़ी दुनिया में नये सिरे प्रतिष्ठा दिलायी।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-

औपनिवेशिकता, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, जॉक लर्का, ज्यॉ-फ्रांस्वा ल्योतर, ज्यॉ-पॉल सार्त्र, जॉक देरिदा, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीजेनग्रंड एडोर्नो, द्वैतवाद, नवउदारतावाद, परिणामवाद, फ्रांसिस बेकन, बुद्धिवाद, भाववाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यथार्थवाद, युरोपीय पुनर्जागरण, युरगन हैबरमास, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, संत ऑगुस्ताइन, सोरेन आबी कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, हरबर्ट स्पेंसर, ज्ञानमीमांसा, ज्ञान का समाजशास्त्र।

## संदर्भ

1. जे. क्रिश्चियन एमडेन (2008), *फ्रेड्रिख नीत्शे एंड द पॉलिटिक्स ऑफ हिस्ट्री*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.
2. माइकेल ग्रीन (2002), *नीत्शे एंड द ट्रांसडेंटल ट्रेडिशन*, युनिवर्सिटी ऑफ इलीनॉय प्रेस, शैम्पेन आइएल.
3. जे. लॉरेस हतब (2005), *नीत्शेज लाइफ सेन्टेंस : कर्मिंग टू टर्म्स विद् इटरनल रिकॉर्स*, रॉटलेज, लंदन.

— नरेश गोस्वामी

## फ्रेड्रिख वॉन हायक

(Friedrich Von Hayek)

मुक्त बाजार के लाभों की पैरोकारी करने वाले ऑस्ट्रियायी अर्थशास्त्री फ्रेड्रिख वॉन हायक (1899-1992) की मान्यता थी कि सरकार द्वारा किया गया आमदनी का कोई भी पुनर्वितरण अमीरों और गरीबों, दोनों को नुकसान पहुँचाने वाला होता है। उनका कहना था कि सरकार द्वारा लोगों को समान अवसर मुहैया कराने का हर प्रयास नाकाम होने के लिए अभिशप्त है। हायक का तर्क था कि अगर सरकार सभी बच्चों को उनके जीवन में एक सा प्रस्थान बिंदु प्रदान करना चाहती है तो उसे उनके माता-पिता की आमदनी का पुनर्वितरण करना होगा। जब तक माता-पिता की आमदनी बराबर नहीं हो जाती तब तक हर बच्चे को समान अवसर उपलब्ध कराने की गारंटी नहीं की जा सकती। यह कोशिश करने वाली हर सरकार लाजमी तौर पर सर्वसत्तावादी होने के लिए मजबूर है। हायक के अनुसार बाजार को नियंत्रित करने की कोशिशों का नतीजा व्यक्तिगत स्वतंत्रता की सीमित करने, आर्थिक दक्षता को घटाने और जीवन-स्तर में कटौती करने में निकलता है। आय-वितरण का काम बाजार की निर्वैयक्तिक ताकतों पर छोड़ देना चाहिए। बाजार के परिणामों को न्याय-अन्याय की कसौटियों पर कसना उचित नहीं होता, क्योंकि न्याय की धारणा इस तरह

की परिस्थितियों पर लागू नहीं हो सकती। समानता के प्रश्न पर हायक का तर्क था कि कानून के समक्ष सभी बराबर होने चाहिए और सभी नागरिकों पर एक से कानून लागू किये जाने चाहिए। 1944 में हायक की पुस्तक *रोड टु सर्क्युलर प्रकाशित हुई जिसने उन्हें सामाजिक सिद्धांतकार के रूप में सारी दुनिया में मशहूर कर दिया।*

फ्रेड्रिख हायक का जन्म वियना में हुआ था। उनके पिता वनस्पति विज्ञान के प्रोफेसर और डॉक्टर होने के साथ-साथ विख्यात ऑस्ट्रियायी अर्थशास्त्री बोह्ल-बावर्क के दोस्त भी थे। प्रथम विश्व युद्ध में ऑस्ट्रियायी फौज में शामिल हो कर इतालवी मोर्चे पर लड़ने के बाद हायक ने वियना विश्वविद्यालय से कानून और राजनीतिक शास्त्र में डबल डॉक्टरेट की। वे ऑस्ट्रियायी इंस्टीट्यूट ऑफ़ इकॉनॉमिक रिसर्च के निदेशक रहे और फिर लंदन स्कूल ऑफ़ इकॉनॉमिक्स में प्रोफेसर पद पर नियुक्त हुए।

तीस के दशक में अर्थशास्त्री के रूप में अपने कैरियर की शुरुआत करते हुए हायक ने मौद्रिक नीति और व्यापार चक्रों की थियरी पर काम किया। इसके बाद उन्होंने मुद्रास्फीति और बेरोजगारी की समस्याओं के अध्ययन की शुरुआत की। दस साल पूरे होते-होते वे समाजवादी सिद्धांत, सरकारी नियोजन और सरकार के हस्तक्षेप के विरोधी हो गये। वे उन गैर-समाजवादी सरकारों के भी आलोचक थे जो नियोजित विकास के रास्ते पर चलना चाहती थीं।

बेरोजगारी के सवाल पर कींस ने भी गौर किया था, पर हायक का सोच अलग तरह का था। वे बेरोजगारी को माँग की कमी का फलितार्थ मानने के बजाय माँग की एक ख़ास तरह की संरचना यानी ग़लत क्रिस्म की चीज़ों की माँग को उसकी वजह मानते थे। जब उपभोग की वस्तुओं की माँग ज्यादा बढ़ती है, और निवेश के लिए धन की कमी पड़ जाती है तो ऐसा होता है। उपभोग की माँग कुछ घटा कर अतिरिक्त धन की बचत निवेश के लिए उपलब्ध कराने वाली नीतियाँ उत्पादन की प्रक्रियाओं को उछाल दे सकती हैं और इस तरह बेरोजगारी कम हो सकती है।

महामंदी के ज़माने में हायक ने कींस द्वारा प्रवर्तित नीतियों का विरोध किया। वे सरकारी धन खर्च करके किये जाने वाले निर्माण कार्यों, समर्थन मूल्य निर्धारित करने और उपभोक्ता माँग को प्रोत्साहित करने वाले उपायों के आलोचक थे। उन्होंने आरोप लगाया कि कींस की नीतियों के कारण जो मंदी हल्के क्रिस्म की थी, वह एक दीर्घकालीन महामंदी में बदल गयी। इसके अलावा इस नीति के गर्भ से मुद्रास्फीति भी निकली जिसने अर्थव्यवस्था को चोट पहुँचायी।

हायक मानते थे कि मुद्रास्फीति बाजार में सही सूचनाओं के प्रवाह को विकृत कर देती है। दामों के ज़रिये उपभोक्ताओं को पता चलता है कि कौन सी वस्तु कम प्रयास



फ्रेड्रिख वॉन हायक (1899-1992)

और कम संसाधनों में बन जाती है। दामों के जरिये ही निर्माता जान पाते हैं कि उत्पादन की कौन सी सामग्री और साधन कम लागत वाले हैं। लेकिन जब मुद्रास्फीति के कारण दाम बढ़ने लगते हैं तो वे सही सूचनाओं के संकेतक नहीं रह जाते। परिणामस्वरूप संसाधनों का आबंटन गैर-जरूरी क्षेत्रों में किया जाने लगता है। आर्थिक दक्षता गिरती है और पूरे राष्ट्र के जीवन-स्तर पर विपरीत असर पड़ता है। बढ़े हुए दामों से निबटने के लिए लोगों की आमदनी बढ़ाने वाली नीतियों से मुद्रास्फीति में इजाफा होता है। परिणामस्वरूप दामों के जरिये मिलने वाली सूचनाएँ और ज्यादा विकृत हो जाती हैं।

हायक के अनुसार महंगाई का मुकाबला करने के लिए बढ़ायी जाने वाली आमदनी का मतलब होता है अधिक नोट छापना, जबकि मुद्रास्फीति से निबटने के लिए मनी सप्लाय में कटौती की जानी चाहिए। चूँकि सरकार की नोट छापने और उनके परिसंचरण पर इजारेदारी होती है इसलिए मुख्यतः सरकार ही मुद्रास्फीति की जिम्मेदार होती है। अपने खर्चों और कर्जों के भुगतान के लिए सरकार हमेशा नोट छापने के प्रलोभन में फँसती है। सरकार की इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए हायक ने बड़ी निजी फ़र्मों और बड़े बैंकों को अपनी मुद्रा छापने का अधिकार देने का सुझाव दिया। वे मानते थे कि नोट जारी करने वाली निजी कम्पनियाँ अपनी मुद्रा की

प्रतिष्ठा की फ़िक्र करेंगी और उनमें कम से कम धन जारी करने की प्रवृत्ति होगी।

सरकार द्वारा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप की आलोचना करने के लिए हायक ने कई दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टियों का सहारा लिया। उनकी मान्यता थी कि व्यक्ति हो या संस्था, मानवीय बुद्धि की एक सीमा है। एक समय में प्रचलित आर्थिक संबंधों की ठीक-ठीक समझ हासिल कर पाना मुश्किल होता है। दूसरे, लोग भौतिकशास्त्र के नियमों की तरह मनोवैज्ञानिक और आर्थिक नियमों का पालन नहीं करते। इसलिए समाज को नियंत्रित करने की सारी कोशिशें बुनियादी रूप से ग़लत होती हैं।

तीस और चालीस के दशक में आर्थिक नियोजन के पैरोकारों का दावा था कि अर्थव्यवस्था में सभी तरह की वस्तुओं की माँग और आपूर्ति का आकलन करके उसके मुताबिक दाम निर्धारित किये जा सकते हैं। नियोजन समर्थक यह भी कहते थे कि अर्थव्यवस्था इतनी जटिल होती है कि बाज़ार के अदृश्य हाथ पर छोड़ने के बजाय एक बेहतर गणितीय मॉडल के जरिये दाम अधिक सक्षमतापूर्वक निर्धारित किये जा सकते हैं। गालब्रेथ जैसे अर्थशास्त्रियों ने यह तर्क भी दिया कि बड़ी कम्पनियाँ एकाधिकारवादी हो कर बाज़ार की प्रतियोगिता को विकृत करती हैं। इसलिए सरकारी नियोजन द्वारा उनकी ताक़त को प्रति-संतुलित करना और जरूरी हो जाता है।

हायक ने अर्थव्यवस्था की जटिलता के तर्क को नियोजकों के खिलाफ़ इस्तेमाल करते हुए कहा कि माँग और आपूर्ति के सभी समीकरणों को कोई एक व्यक्ति या नियोजकगण नहीं समझ सकते। इसी तरह कीसियन शैली का समष्टिगत (मैक्रोइकॉनॉमिक) आर्थिक प्रबंधन भी दोषपूर्ण होने के लिए अभिशप्त है। वह बाज़ार की बारीकियों को नहीं समझ सकता। एकाधिकारी पूँजी की ताक़त के सवाल पर उनका कहना था कि वह तो सरकारी क्रदमों के कारण ही पैदा होती है। मसलन, घरेलू उत्पादक सरकार पर दबाव डालते हैं कि आयात हतोत्साहित करे और दूसरे उद्योगों को लाइसेंसिंग के जरिये रोके। हायक का विचार था कि अगर बड़ी फ़र्में ताक़तवर हो भी गयीं तो बाज़ार की प्रतियोगिता (नये प्रतिद्वंद्वियों का डर) उन्हें दक्षतापूर्वक काम करने के लिए मजबूर करेगी।

हायक के मुक्त बाज़ार समर्थक विचारों की समाजवादी ही नहीं, पूँजीवादी ख़ेमे से भी आलोचना हुई। कीसियन अर्थशास्त्र के पैरोकारों और कल्याणकारी राज्य के समर्थकों ने उनके तर्क मानने से हमेशा इनकार किया। 1974 में उन्हें गुनार मिर्डाल के साथ नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। दिलचस्प बात यह है कि हायक और मिर्डाल

अर्थशास्त्र की दुनिया में एक-दूसरे के विपरीत रास्तों के प्रवर्तक थे। हालाँकि पुरस्कार कमेटी ने हायक की राजनीतिक अंतर्दृष्टियों की सराहना की, पर मिर्डाल के साथ पुरस्कृत होने को उनके बाज़ार समर्थक रुख पर एक टिप्पणी के रूप में देखा गया।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कॉसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजकलासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्त्राफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शैयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

### संदर्भ

1. नार्मन पी. बैरी (1979), *हायक्स सोशल ऐंड इकॉनॉमिक फ़िलॉसफ़ी*, मैकमिलन, लंदन.
2. ईमॉन बटलर (1984), *हायक: हिज़ कंट्रीब्यूशन टु द पॉलिटिकल ऐंड इकॉनॉमिक थॉट ऑफ़ अवर टाइम*, युनिवर्स बुक्स, न्यूयॉर्क.
3. शियाकी निशियामा और कर्ट आर. लीबी (1984), *द इसेंस ऑफ़ हायक*, हूवर इंस्टीट्यूशन प्रेस, स्टैनफ़र्ड.
4. नार्मन पी. बैरी (1981), 'रिस्टेंटिंग द लिबरल ऑर्डर : हायक्स फ़िलॉसफ़िकल इकॉनॉमिक्स', संकलित : जे.आर. शेकल्टन और जी. लोकसली (सम्पा.), *ट्वेल्फ़ कंटेंम्परेरी इकॉनॉमिस्ट्स*, विली, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

## फ्रैंकफ़र्ट स्कूल

(Frankfurt School)

फ्रैंकफ़र्ट स्कूल का संबंध उन संस्कृति-आलोचकों, समाज-वैज्ञानिकों तथा दर्शनशास्त्रियों से है जो जर्मनी में 1923 में स्थापित फ्रैंकफ़र्ट इंस्टिट्यूट फ़ॉर सोशल रिसर्च से जुड़े हुए थे। विद्वानों की इस मण्डली में मैक्स होर्खाइमर, थियोडोर एडोर्नो, एरिक फ़्रॉम, हर्बर्ट मार्क्यूज़ और वाल्टर बेंजामिन के नाम विशेष रूप से जाने जाते हैं। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद इस समुदाय के दूसरी पीढ़ी के सदस्यों में इतिहासकार युरगन हैबरमास का नाम प्रमुख है। फ्रैंकफ़र्ट स्कूल अपने सदस्यों के मार्क्सवाद से भिन्न तरह के जुड़ाव के कारण जाना जाता है। उन्होंने एक ख़ास तरह के हेगेलियन मार्क्सवाद की परिकल्पना की जो बीसवीं सदी के पूँजीवाद की व्याख्या के अधिक अनुकूल थी। हंगरी के मार्क्सवादी आलोचक ग्योर्गी लूकाच के लेखन ने भी फ्रैंकफ़र्ट स्कूल को प्रभावित किया है, ख़ास तौर पर उनकी पुस्तक *हिस्ट्री ऐंड क्लास कांशसनेस* (1923) ने जो मार्क्सवाद की विचार-भूमि पर खड़े हो कर कांट तथा हीगेल की परम्परा का भी उपयोग करती है। इसी तरह फ्रैंकफ़र्ट स्कूल में पूँजीवाद के अंत के बारे में मार्क्सवादी भविष्यवाणियों को विवेकसंगत तरीके से परखने के लिए जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर की मान्यताओं का भी उपयोग किया गया, ख़ास तौर पर समकालीन औद्योगिक समाज के परिरक्षण व सत्ता-संचालन में नौकरशाही की बढ़ती भूमिका के विश्लेषण के तौर पर। स्कूल के विद्वानों ने मनोविश्लेषण की प्रविधियों के प्रयोग को भी तरजीह दी और मार्क्स व फ़्रॉयड का वैचारिक सम्मिश्रण तैयार किया। इस प्रकार फ्रैंकफ़र्ट स्कूल ने, ख़ास तौर पर होर्खाइमर के नेतृत्व में, बहु-अनुशासनिक शोध परियोजनाएँ तैयार कीं जिसमें अनुभवाश्रित समाज-वैज्ञानिक शोध को प्राथमिकता देकर उसके परिणामों को मार्क्सवादी दृष्टि से विश्लेषित करने पर बल दिया गया।

फ्रैंकफ़र्ट स्कूल की वैचारिकता को क्रिटिकल थियरी के रूप में परिभाषित किया गया है। इस क्रिटिकल थियरी और ट्रेडिशनल थियरी के बीच अंतर को व्याख्यायित करते हुए होर्खाइमर ने बताया है कि ट्रेडिशनल थियरी ने सत्रहवीं सदी के आरम्भ से पश्चिम के विज्ञानवादी नज़रिये के आधार पर अपना विस्तार किया। इसके पीछे यह मान्यता मौजूद थी कि वैज्ञानिक स्वयं द्वारा प्रेक्षित वस्तु से पूरी तरह स्वतंत्र होता है और एक सही वैज्ञानिक प्रविधि के माध्यम से वह संसार के वस्तुगत सत्य का पता लगा कर उसे संचालित करने वाले नियमों की खोज कर सकता है। होर्खाइमर ने इन दावों के



मैक्स होर्खाइमर (बाएँ) और थियोडोर एडोर्नो ( डायलेक्टिक्स ऑफ़ ऐनलाइटनमेंट )

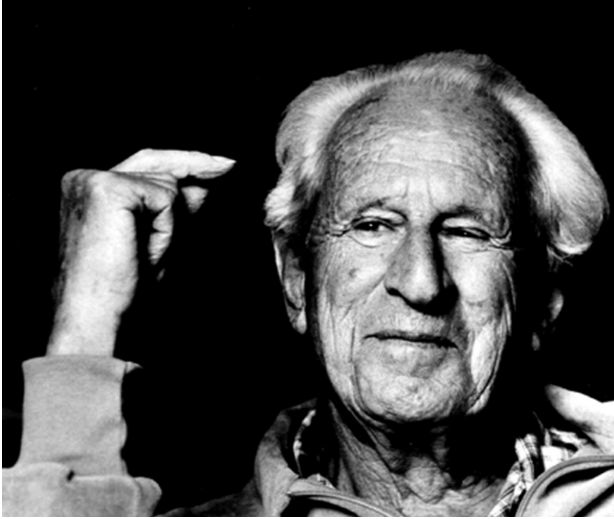
विरुद्ध स्थापना रखी कि वैज्ञानिक खुद भी किसी ऐतिहासिक संदर्भ से जुड़ा होता है और वह समाज व संस्कृति की मूल बनावट से पूर्णतः निरपेक्ष नहीं रह सकता है। समाज-विज्ञान के पास अपनी इस मान्यता पर दृढ़ रहने के पर्याप्त कारण हैं कि वैज्ञानिक द्वारा जिस वस्तु या विषय का प्रेक्षण किया जाता है, वह स्वयं ऐतिहासिक प्रक्रिया का उत्पाद होती है। क्रिटिकल थियरी समाज-संस्कृति के इन्हीं संदर्भगत प्रभावों का आकलन करती है और समाज के बारे में नज़रियों को प्रभावित करने तथा उन्हें विकृत करने की प्रक्रिया का सूक्ष्म अनुभववादी अध्ययन करने की दिशा अपनाती है। उसे आत्मालोचना व आत्म-चिंतन से खुद को लैस करना होता है। इसमें केवल ज्ञान के सामाजिक अनुकूलन का ही विश्लेषण नहीं होता बल्कि उस अनुकूलन में मौजूद शक्ति-संरचना की पहचान भी की जाती है। साथ ही राजनीतिक विषमता और वर्ग-विभाजित समाज को बनाये रखने तथा उस विषमता-विभेद को लगातार पुनरुत्पादित करते रहने में उस ज्ञान की केंद्रीय भूमिका का भी विवेचन किया जाता है।

फ्रैंकफ़र्ट स्कूल की विचारधारात्मक प्रेरणा में मार्क्सवाद निर्णायक तरीके से मौजूद था पर तीस का दशक तक आते-आते इनमें से अधिकतर विचारक विकसित पूँजीवादी देशों में सर्वहारा की क्रांतिकारी शक्ति के बारे में किसी भी प्रकार की आशा त्याग चुके थे। श्रमिक वर्ग को किसी भी अन्य वर्ग की भाँति ही पूँजीवाद के अभिन्न अंग के रूप में देखा जाने लगा था। यही वह दौर था जब 1933 में हिटलर के राजनीतिक उत्थान ने फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के विद्वानों को जर्मनी के बाहर आश्रय ढूँढने के लिए विवश कर दिया। स्कूल का केंद्र पहले जिनेवा में स्थापित किया गया और फिर 1935 में न्यूयार्क ले जाया गया। कोलम्बिया युनिवर्सिटी से जुड़ने के बाद स्कूल का जर्नल *स्टडीज़ इन फ़िलॉसफ़ी ऐंड सोशल साइंस* के नाम से अंग्रेज़ी में प्रकाशित होने लगा। युद्धोपरांत होर्खाइमर, एडोर्नो तथा फ्रेड्रिख़ पोलाक जैसे विचारक पचास के दशक में पश्चिम जर्मनी में आकर बस गये पर मार्क्यूज़ और

लोवेंथल अमेरिका में ही स्थायी रूप से रहने लगे। 1953 में फ्रैंकफ़र्ट में ही संस्थान को पुनर्स्थापित कर दिया गया।

फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के विचारकों ने मैक्स वेबर द्वारा प्रतिपादित नौकरशाही के सिद्धांत का प्रयोग करते हुए दिखाया है कि सभी सामाजिक वर्ग सरकार व उद्योग की प्रशासनिक संरचना के अधीन रहते हैं। वर्गों के बीच अंतर को शक्ति के आधार पर नहीं बल्कि भौतिक सम्पन्नता के आधार पर समझा जा सकता है। स्कूल ने ऐतिहासिक भौतिकवाद से प्रेरित इतिहास की रेखीय अवधारणा (जिसमें सर्वहारा के शासक बन जाने तथा समाजवाद की स्थापना होने को अवश्यंभावी माना जाता था) को भी छोड़ दिया। फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के इतिहास-बोध के अनुसार इतिहास मानवता की चरणबद्ध मुक्ति नहीं बल्कि मानव-समाज पर तकनीकी-प्रशासकीय अंकुश लगाने की तरफ़ बढ़ रहा है। ज्ञानोदयकालीन विज्ञान-चिंतन तथा अधिनायकवाद के दावों की भी फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के विद्वानों ने कड़ी समीक्षा की। इन विद्वानों ने कहा कि जो लोग सम्पूर्ण या अंतिम सत्य की प्राप्ति का दावा करते हैं, अपनी सामाजिक स्थिति को नहीं समझते या उसके परे चले जाने की बात कहते हैं, वे राजनीतिक रूप से खतरनाक होते हैं। चाहें फिर वे स्तालिनवादी हों, नाज़ी हों या पश्चिमी लोकतंत्र के नौकरशाही समर्थक अधिकारी हों। होर्खाइमर और एडोर्नो ने अमेरिका प्रवास में संयुक्त रूप से *डायलेक्टिक्स ऑफ़ ऐनलाइटनमेंट* नामक कृति की रचना की जिसमें ज्ञानोदयकालीन युग की मान्यताओं के खतरनाक रूढ़ि में बदलने की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए प्रदर्शित किया कि ज्ञानोदय स्वयं में एक जड़-सिद्धांत में बदल गया जिससे मानवीय आत्मालोचना की सम्भावनाएँ सीमित हो गयीं। इसी का परिणाम नाज़ी जर्मनी की क्रूरता के रूप में सामने आया।

फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के विद्वानों ने ज्ञानोदय से स्वयं को पूरी तरह अलग नहीं किया। उन्होंने कहा कि समाज में बहुत सीमित क्रिस्म का ही ज्ञानोदय यानी बौद्धिक आत्ममंथन आ पाया है। ज्ञानोदय की आलोचना करते हुए उन्होंने सांस्कृतिक सापेक्षतावाद से भी दूरी बनाये रखी। *डायलेक्टिक्स ऑफ़ ऐनलाइटनमेंट* में ही पहली बार संस्कृति-उद्योग की अवधारणा प्रतिपादित हुई। इसमें मास-कल्चर के उत्पादन की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए दिखाया गया कि यह ऐसी संस्कृति है जो पूँजीवाद के परवर्ती चरण के बीच कड़े नियंत्रण वाले समाज व उपयोगितावादी प्रशासन के बीच जन्म लेती है। रेडियो-टीवी के रूप में मास मीडिया वस्तु से अधिक पूँजीवादी जीवन-शैली का प्रचार करता है और व्यक्ति की सांस्कृतिक स्वायत्तता नष्ट होती चली जाती है। इस प्रकार मास कल्चर व्यक्ति के मानस व जीवन-शैली को पूरी तरह नियंत्रण में ले लेती है। प्रशासन-केंद्रित समाज बन जाने से उत्पादन के साधनों तथा उत्पादन की शक्तियों के बीच के अंतर्विरोध, जो मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद का अंत



हर्बर्ट मार्क्यूज

कर सकते हैं, नियंत्रित हो जाते हैं।

फ्रैंकफर्ट स्कूल के अधिकतर विचारक साम्यवाद के रूढ़िग्रस्त रूपों के आलोचक होने के साथ-साथ पूँजीवाद के फैलते प्रभाव तथा मीडिया व कारपोरेट संस्थानों के विशाल सर्वग्रासी रूपों की भी आलोचना करते रहे। मार्क्सवादी विचारधारा के दायरों में इन बौद्धिकों को तीखी आलोचना का सामना भी करना पड़ा। उन्हें इसलिए आड़े हाथों लिया गया कि उन्होंने सांगठनिक राजनीतिक गतिविधियों से स्वयं को अलग करके खुद को बूर्ज्वा अकादमिक जगत का अंग बना लिया है। कहा गया कि वे समाज व संस्कृति की आलोचना के जरिये मार्क्सवादी विचार का विकास करने का लक्ष्य लेकर चले थे पर अंतिम परिणति में बूर्ज्वा आदर्शवाद से प्रेरित विचारधारा को ही समृद्ध करते चले गये।

फ्रैंकफर्ट स्कूल द्वारा संस्कृति के क्षेत्र में किये गये अध्ययनों से एक समृद्ध तथा विविधतापूर्ण बौद्धिक विरासत की स्थापना हुई। लियो लावेंथल ने साहित्य के समाजशास्त्र के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया कि किस प्रकार समाज की आर्थिक तथा वर्गगत संरचनाएँ साहित्य में व्यक्त होती हैं। संगीत, साहित्य व लोकप्रिय साहित्य के क्षेत्र में एडोर्नो ने कला के मार्क्सवादी समाजशास्त्र को परम्परानिष्ठ सौंदर्यशास्त्र से जोड़ कर देखने का प्रयास किया। उन्होंने कला को एक ऐसी अंतिम बची हुई शक्ति के रूप में देखा जो पूँजीवाद की आलोचना कर सकती है और राजनीतिक अंतर्दृष्टि का भी स्रोत होती है। एडोर्नो ने कला को एक सामाजिक तथ्य के रूप में पेश करते हुए उसका सौंदर्यशास्त्रीय मूल्य भी रेखांकित किया।

देखें : टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और समाचार, पिएर बोर्दियो, बाज़ारू संस्कृति, बहुसंस्कृतिवाद, मिखाइल मिखाइलोविच बार्खिन, रोलाँ बार्थ, लुई अलथुसे, संस्कृति, संस्कृति-

अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक पूँजी, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा, सौंदर्यशास्त्र।

### संदर्भ

1. डेविड हेल्ड (1980), *इंट्रोडक्शन टु क्रिटिकल थियरी, होर्खाइमर टु हैबरमास*, युनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, न्यू हैविन.
2. एरेटो एंड्रूज और एलिक गेबर्ट (सम्पा.) (1982), *द इंसैशियल फ्रैंकफर्ट स्कूल रीडर*, कांटिनुएम, न्यूयॉर्क.
3. जे. बर्नस्टीन (सम्पा.) (1994), *द फ्रैंकफर्ट स्कूल : क्रिटिकल एसेसमेंट*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क.
4. टाम बॉटमोर (2002), *द फ्रैंकफर्ट स्कूल ऐंड इट्स क्रिटिक*, रॉटलेज, न्यूयॉर्क.
5. जॉर्ज फ्रीडमैन (1981), *द पॉलिटिकल फिलॉसफी ऑफ द फ्रैंकफर्ट स्कूल*, कार्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

— वैभव सिंह

## फुरसत

(Leisure)

फुरसत की अवधारणा को परिभाषित करना समाजशास्त्रियों के लिए एक जटिल काम रहा है। हालाँकि एक विचार के रूप में फुरसत को लेकर 1920 के दशक में चिंतन-मनन शुरू हो गया था और 1925 में थोर्स्टाइन वेबलन की पुस्तक *द थियरी ऑफ द लेज़र क्लास* प्रकाशित हो चुकी थी। लेकिन एक अकादमिक विषय के तौर पर उसके अध्ययन का सूत्रपात बीसवीं सदी के छठे और सातवें दशक में हुआ। दुमाजेदिअर जैसे शुरुआती चिंतक ने फुरसत को कामकाज और परिवार की ज़िम्मेदारियों से अलहदा एक ऐसी गतिविधि के रूप में परिभाषित किया जो व्यक्ति को आराम करने, ज्ञान बढ़ाने तथा सामाजिक कार्यों में भागीदारी करने का अवसर प्रदान कराती है। दुमाजेदिअर ने अपने विश्लेषण में सुख और चयन की स्वतंत्रता को फुरसत का अंतर्निहित तत्त्व माना। इन्हीं तत्त्वों के आधार पर वह वेतनभोगी काम और रोज़मर्रा के अनिवार्य कार्यों से एक अलग क्रिस्म की गतिविधि ठहरती है। इस तरह फुरसत को दैनिक कार्यों के ढाँचे से एक तरह की मुक्ति, शेष समय या क्षतिपूर्ति के तौर पर भी देखा जा सकता है। उसे समय के ऐसे अंश के तौर पर भी व्याख्यायित किया जा सकता है जो काम-धंधे में लगने वाले समय के बाद बचता है।

फुरसत के समाजशास्त्र में कार्य और दायित्वों के प्रति यह विरोधी द्वैध ख़ास अहमियत रखता है। पार्कर जैसे कई

विद्वानों ने फुरसत और कार्यों-दायित्वों के इस विषम संबंध की और गहरायी में जाकर पड़ताल की है। उनका मानना है कि फुरसत सामाजिक जीवन का एक बेहद अहम पहलू है जो कार्य, परिवार, शिक्षा आदि जैसे पारम्परिक क्षेत्रों की तरह गहरे समाजशास्त्रीय विश्लेषण की माँग करता है। फुरसत के विचार की ऐतिहासिकता को चिह्नित करने के क्रम में समाजशास्त्रियों की एक अहम स्थापना यह है कि जीवन के एक स्वतंत्र दायरे तथा समय और काल के रूप में उसे पहली बार उद्योगीकरण के दौरान पहचान मिली। शायद यही वजह है कि अनेक विद्वान इस बात पर जोर देते हैं कि फुरसत को कार्य से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

कई समाजशास्त्रियों ने कार्य और फुरसत के द्वैध की तीन स्तरों पर पड़ताल की है : कार्य का एक रूप ऐसा है जिसमें फुरसत को अलग से चिह्नित करना मुश्किल होता है। सामाजिक कार्यकर्ता, अध्यापक तथा डॉक्टर आदि को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। दूसरी श्रेणी ऐसे कार्यों की है जिसमें व्यक्ति को कड़ा शारीरिक श्रम करना पड़ता है। खदान मजदूर आदि इस श्रेणी के अन्यतम उदाहरण हैं जिसमें कार्य और फुरसत दो अलग ध्रुवों पर दिखायी देते हैं। कार्य और फुरसत के विभाजन की तीसरी श्रेणी में ऐसे कार्य आते हैं जिन्हें करते हुए न संतुष्टि मिलती है और न ही उन्हें हाड़-तोड़ मेहनत की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस श्रेणी के लोग अपने काम और फुरसत दोनों को ही लेकर बेमन और उदासीन होते हैं।

लेकिन इस विभाजन की एक बड़ी सीमा यह है कि उसमें केवल वेतनभोगी लोग शामिल किये गये हैं जिससे बेरोजगार, छात्र, सेवानिवृत्त और घर-बार सँभालने वाली महिलाओं का एक बड़ा वर्ग विश्लेषण से बाहर हो जाता है। फिर भी काम और फुरसत के इस मॉडल को इसलिए महत्वपूर्ण माना ही जाता है क्योंकि उसमें फुरसत को व्यक्तिगत पसंद का मसला न मानकर उसे सामाजिक संदर्भ में रखकर विचार किया गया है। फुरसत की इस सैद्धांतिकी में बाद के वर्षों में कई अन्य सूत्रों और नज़रियों का समावेश हुआ है।

सातवें और आठवें दशकों में फुरसत की अवधारणा कई समाजशास्त्रीय प्रस्थापनाओं में रखकर देखी गयी। इंग्लैण्ड में इस अध्ययन की तीन परम्पराएँ बहुलतावाद, क्रिटिकल मार्क्सवाद और नारीवादी व्याख्याएँ सामने आयीं जबकि अमेरिका में फुरसत को सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पद्धति से समझने का आग्रह हावी रहा। इस दौर में राबर्ट्स जैसे विद्वान इस बात पर विशेष जोर दे रहे थे कि फुरसत के समकालीन रूपों को समझने के लिए समाज का बहुलतावादी मॉडल सबसे कारगर हो सकता है। इस मॉडल के अनुसार फुरसत के रूप लोगों की रुचियों और दिलचस्पियों से तय

होते हैं जो स्वयं परिस्थितियों की विभिन्नताओं से पैदा होते हैं। फुरसत के व्यावसायिक तथा सार्वजनिक प्रबंधक असल में कुछ अनुभवों की आपूर्ति करते हैं जिनके आधार पर व्यक्ति अपनी विशिष्ट जीवन-शैली का चुनाव करते हैं। इस तरह फुरसत किसी काम से मुक्ति भी है और एक ही साथ इच्छित करने की आज़ादी भी है। इसे मूलतः व्यक्ति द्वारा निर्धारित व्यवहार कहा जा सकता है। यह मॉडल फुरसत को बाहरी प्रभावों से मुक्त अवधारणा नहीं मानता लेकिन साथ ही इस तथ्य पर जोर देता है कि फुरसत के विचार में जेंडर, सामाजिक-आर्थिक अवस्थिति तथा उम्र जैसे पहलू भिन्न भिन्न रूपों में विद्यमान रहते हैं।

बहुलतावादी मॉडल के उलट मार्क्सवादी सिद्धांतकारों का आग्रह यह रहा है कि फुरसत को पूँजीवादी समाज की संरचना के एक अंतर्भूत अंग के तौर पर ही समझा जाना चाहिए। इस धारा के विद्वानों का मानना है कि फुरसत के रूपों पर जिस तरह बाज़ार और राज्य का क़ब्ज़ा है तथा वह जिन असमानताओं का शिकार है उससे यह ज़ाहिर होता है कि फुरसत कोई स्वतंत्र गतिविधि न होकर पूँजीवादी समाज की ही संरचना है। इन सिद्धांतकारों ने फुरसत के अकादमिक अध्ययन पर हावी पारम्परिक साँचे के वर्चस्व को चुनौती देते हुए इस बात को प्रमुख माना है कि फुरसत के अध्ययन में इतिहास तथा सामाजिक प्रक्रिया जैसे काम, परिवार, आयु चक्र तथा बाज़ार आदि पर ध्यान दिया जाना चाहिए। उनके अनुसार फुरसत को बेशक व्यक्तिगत रुचि का मसला माना जाए लेकिन इससे यह तथ्य दरकिनार नहीं हो जाता कि अंततः व्यक्तिगत रुचि सामाजिक संरचनाओं में निहित दबावों और सीमाओं से निर्धारित होती है। उनका जोर इस बात पर रहा है कि फुरसत को संरचना तथा एजेंसी, नियंत्रण और चयन के विकल्प, निरंतरता तथा बदलाव के अंतःसंबंधित परिप्रेक्ष्य में समझा जाना चाहिए। मार्क्सवादी शिविर में फुरसत के संबंध में एक अन्य प्रवृत्ति भी उभरी है जो फुरसत को इतिहास और जीवनवृत्त के बीच रखकर देखने का आग्रह करती है। वह फुरसत में निहित स्वतंत्रता और सीमाओं को समय, परिवेश, सांस्थानिक ढाँचों तथा सामाजिक पहचानों के इर्द-गिर्द बुनी हुई निर्मिति के तौर पर देखना चाहती है। समाजशास्त्र के मार्क्सवादी अध्ययन में इस प्रवृत्ति को सांस्कृतिक अध्ययन की देन माना जाता है जो फुरसत को समाज के वर्चस्वशाली और अधीनस्थ समूहों के बीच सांस्कृतिक जोर आजमाइश के तौर पर देखती है।

फुरसत संबंधी अध्ययन को आठवें दशक में नारीवादी शिविर से एक कड़ी चुनौती मिली। नारीवादी सिद्धांतकारों की दलील थी कि फुरसत ही नहीं समूचा समाजशास्त्र ही मर्दवादी आग्रहों से ग्रस्त है। उनके अनुसार फुरसत को ख़ाली समय या रुचि की स्वतंत्रता के तौर पर देखना स्त्रियों के लिए

लगभग अप्रासंगिक है क्योंकि उनके जीवन को काम और फुरसत के पृथक क्षेत्रों में नहीं बाँटा जा सकता। उन्हें नौकरी के अलावा घर और बच्चों के लिए भी समय निकालना पड़ता है। यही नहीं जिस समय में परिवार के बाकी सदस्य सामान्य ज़िम्मेदारियों से मुक्त होकर तफ़रीह के मूड में होते हैं उस समय भी महिलाओं को घर के सदस्यों के फुरसती क्षणों को आनंदपूर्ण बनाने के लिए काम करना पड़ता है। इस कोण से देखा जाए तो महिलाओं के लिए फुरसत भी एक सापेक्षिक पद ही है क्योंकि यहाँ भी वह पुरुषों की तरह फुरसत के समय का मनचाहा उपयोग नहीं कर सकती। इस तरह नारीवादी सैद्धांतिकी इस तथ्य को प्रतिष्ठित करती है कि स्त्रियों के संदर्भ में फुरसत को उनके जीवन के अन्य क्षेत्रों से न काटकर उनके जीवन के सम्पूर्ण संदर्भ में देखा जाना चाहिए।

इस कालखण्ड में नारीवादी दृष्टि से किये गये शोध-कार्यों में यह पक्ष नियमित रूप से प्रकट होता है कि फुरसत के अनुभव और उसकी संस्थाओं में जेंडर के संबंध खास अहमियत रखते हैं। शोध से यह बात भी उभरी कि पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों की स्थिति अधीनस्थ की होती है। ऐसे में स्त्रियों की सामाजिक-आर्थिक हैसियत तथा मर्दानगी और स्त्रीत्व की अवधारणाएँ उनके जीवन को गहरायी से प्रभावित करती हैं। जब इस पहलू पर शोध और सिद्धांत निर्माण किया गया कि महिलाओं के लिए फुरसत का क्या अर्थ हो सकता है तो इसके आलोक में स्त्रियों की यौनिकता, सम्मान तथा सामाजिक नियंत्रण के मसलों पर भी ध्यान गया। इस काल के कई अध्ययनों से यह बात उजागर होती है कि महिलाओं के संदर्भ में फुरसत फ़ेमिनिटी और जेंडरगत व्यवहार की धारणाओं से आक्रांत रहती है और इस तरह स्त्री प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तौर पर व्यक्तिगत या सामूहिक स्तर पर पुरुषों द्वारा नियंत्रित रहती है। हालाँकि इस दौर के शोध और अध्ययन का ज़्यादा जोर जेंडर से पैदा होने वाले संरचनात्मक दबावों पर था लेकिन साथ ही इस बात की अनदेखी नहीं की गयी कि जेंडर के संबंधों का वर्ग और जातीय समूहों से भी गहरा नाता है।

इंग्लैण्ड में आठवें दशक में नारीवादी और नव-मार्क्सवादी, दोनों ही तरह के विश्लेषणों में फुरसत के समाजशास्त्र को मुख्यतः भौतिकतावादी या संरचनात्मक पद्धति से देखा जा रहा था। लेकिन अमेरिका में फुरसत के अध्ययन के प्रति एक अलग तरह की पद्धति अपनायी जा रही थी, जो मुख्यतः व्यक्ति केंद्रित और सामाजिक मनोविज्ञान पर आधारित थी। यह पद्धति इस बात पर ज़्यादा फ़ोकस करती है कि व्यक्ति स्वयं फुरसत के समय को कैसे अनुभव करता है। ऐसे में अध्ययन का जोर दबावों और सीमाओं के बजाय इस बिंदु पर केंद्रित होता जाता है कि व्यक्ति अपनी भूमिका

तय करने और पहचान गढ़ने में फुरसत का इस्तेमाल किस तरह करता है। इस पद्धति के अनुसार फुरसत एक ऐसी गतिविधि है जो व्यक्ति को मनचाहा और संतुष्टिदायक करने का स्पेस देती है। इस धारा की मूलभूत प्रस्थापना ऑप्टिमल अनुभव की धारणा पर टिकी है जिसके मुताबिक कुशल और हुनरमंद व्यक्ति अपनी कार्यक्षमता का उच्चतम स्तर फुरसत की गतिविधियों में वक्रत बिताकर ही हासिल कर सकते हैं। इस तरह फुरसत को अनुभव की तरह देखने वाली यह धारा बाहरी संदर्भों और दबावों के बजाय व्यक्ति की प्रेरणाओं और संतुष्टि तथा उसकी भीतरी संवेदनाओं व अनुभवों पर ज़्यादा ध्यान केंद्रित करती है।

नवें दशक के बाद फुरसत के अध्ययन में उत्तर-आधुनिकता की सैद्धांतिकी का व्यापक असर देखा जा सकता है। इस पद्धति का इस्तेमाल करने वाले विद्वान और अध्येताओं का मानना है कि फुरसत के अध्ययन से संबंधित अब तक जितनी भी रूढ़ियाँ विकसित हुई हैं वे सभी औपचारिकतावाद, क्रिटिकल मार्क्सवाद, सांस्कृतिक अध्ययनों के परिप्रेक्ष्य या फिर नारीवाद के प्रभाव से आक्रांत रही हैं। लिहाज़ा फुरसत के उत्तर-आधुनिक विमर्श में पूर्ववर्ती प्रस्थापनाओं को चुनौती देने के साथ अपना एक स्वतंत्र नज़रिया भी पेश किया गया है। इस धारा के समाजशास्त्रियों के मुताबिक फुरसत की मौजूदा सैद्धांतिकी द्वैध पर आधारित कुछ सार्वभौमिक विवरणों से आगे नहीं जा पाती और इस तरह संस्कृति, विविधता तथा एजेंसी के मसलों पर विचार करने से चूक जाती है। इस समूह के विद्वान फुरसत के विश्लेषण में अनुभव को केंद्रीय तत्त्व मानकर चलते हैं। उनके अनुसार पूर्ववर्ती संरचनाओं के क्षय तथा वर्ग, जातीयता और जेंडर आदि जैसे सामाजिक विभाजनों की बढ़ती धुंधलाहट ने फुरसत और उससे उपजने वाली जीवनशैली को वैयक्तिक और सामाजिक पहचानों के निर्माण में भी एक अहम कारक बना दिया है। फुरसत के उत्तर-आधुनिक विमर्शकारों के अनुसार नयी तकनीक का विकास, हायपर यथार्थ, प्रामाणिकता का लोप, सांस्कृतिक सीमाओं का अवसान, उथलापन, विखण्डन, पैरोडी तथा घालमेल की संस्कृति फुरसत के मौजूदा विमर्श के पारिभाषिक बिंदु बन गये हैं। उनके अनुसार समकालीन संदर्भ में फुरसत पर्यटन या देशाटन जैसे स्थिर और स्थायी अनुभव के बजाय आभासी थीम पार्को में बदल गये हैं जहाँ भौतिक यथार्थ, कल्पना, और गल्प के बीच अंतर करना मुश्किल हो गया है। फुरसत का यह नया संस्करण सुख, जोखिम और उत्तेजना के निजी अनुभवों में ढलता जा रहा है। फुरसती जीवनशैली तथा उपभोक्तावाद के संबंध किसी अन्य तत्त्व के अभाव में एक दूसरे के ज़्यादा नज़दीक आते जा रहे हैं।

हालाँकि पिछले दो दशकों में फुरसत को देखने-



परखने और उसके सिद्धांतीकरण में उत्तर आधुनिकता का बोलबाला रहा है। लेकिन इसके समानांतर अनेक विद्वान लगातार इस बात की ओर ध्यान दिलाते रहे हैं कि अपने आप में उत्तर आधुनिकता भी कोई मुकम्मल या समूची प्रस्थापना नहीं है। इस पक्ष में वे यह दलील देते हैं कि समकालीन सांस्कृतिक विश्व में बेशक अनिश्चय, बिखराव तथा उथलापन बढ़ रहा है और नतीजतन फुरसत के समय पर इनके प्रभाव बखूबी देखे जा सकते हैं परंतु इसके बावजूद सांस्कृतिक भिन्नताओं तथा सामाजिक पहचानों की बहुस्तरीय जटिलताओं को अनदेखा नहीं किया जा सकता। इसी कारण उनके लेखन में सत्ता के वृहत्तर संरचनात्मक संबंध तथा जनजीवन में भौतिक असमानताओं के तथ्य एक सैद्धांतिक दृष्टि के रूप में लगातार क्रायम रहे हैं।

**देखें :** अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता,

जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

### संदर्भ

1. सी.सी. ऐचिसन (2003), *जेंडर ऐंड लेज़र*, रॉटलेज, लंदन.
2. टी. ब्लैकशॉ (2003), *लेज़र लाइफ़*, रॉटलेज, लंदन.
3. आर. डीम (1986), *ऑल वर्क ऐंड नो प्ले : द सोसियोलॉजी ऑफ़ वुमैन ऐंड लेज़र*, रॉटलेज और कीगन पॉल, लंदन.
4. जे.आर. केली (1987), *फ्रीडम टू बी : अ न्यू सोसियोलॉजी ऑफ़ लेज़र*, मैकमिलन, न्यूयॉर्क.
5. सी. रोज़ेक (2000), *लेज़र ऐंड कल्चर*, पालग्रेव, न्यूयॉर्क : बेसिंगस्टोक.

— नरेश गोस्वामी